RNI No. . DELBIL/2016/68976 ISSN : 2456-4699

Peer-reviewed refereed Research Journal

Copyright @ PGDAV College (Eve.)
All rights reserved. Reproduction in any form is prohibited.

Chief Editor : Prof. R.K. Gupta
Published and printed by Prof. R.K. Gupta for PGDAV College (Eve.), University of Delhi from PGDAV College (Eve.), Nehru Nagar, New Delhi-110065 and printed at Vandana Offset Printers, A-9, Sarai Pipal Thala Extension, Delhi-110 033

bodhayan बोधायन

bodhayan बोधायन

Volume 3, Issue 1 - 2018

ISSN : 2456-4699

bodhayan बोधायन

Volume 3, Issue 1 - 2018

Chief Editor
R.K. Gupta

Editor
B.N. Chaudhary

Editorial Board
Satyakam Sharma, Jagmohan Rai
Ashma Bhatia, Mridula Arora, Pramod Kumar Sethi
Anil Kumar Singh, Krishna Shukla, Vipin Pratap Singh

(दिल्ली विश्वविद्यालय)

An official Multi-lingual Interdisciplinary Journal
PGDAV College (Evening)
University of Delhi, Delhi

2018

ISSN : 2456-4699

Volume 3, Issue 1 - 2018

bodhayan
बौधायन

Chief Editor
R.K. Gupta

Editor
B.N. Chaudhary

Editorial Board
Satyakam Sharma, Jagmohan Rai
Ashma Bhatia, Mridula Arora, Pramod Kumar Sethi
Anil Kumar Singh, Krishna Shukla, Vipin Pratap Singh

(दिल्ली विश्वविद्यालय)

An official Multi-lingual Interdisciplinary Journal
PGDAV College (Evening)
University of Delhi, Delhi

2018

अनुक्रमणिका

1. नाट्यशास्त्रीय परम्पराओं का आधुनिकीकरण 03
अंकुश शर्मा
2. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : गांधीवादी मूल्यों के निकष पर 06
गीता पाण्डेय
3. हिन्दी नाटक और रंगमंच के आईने में मोहन राकेश 10
चन्द्रप्रकाश मिश्र
4. भूमंडलीकरण, उत्तर-आधुनिकता और रंगमंच 15
सतीश पावडे
5. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी महिला कथाकारों की कहानियाँ और स्त्री अस्मितामूलक विमर्श 18
सुषमा सहरावत
6. भक्तिकालीन काव्य में भारतीय लोकजीवन तथा लोकसंस्कृति 22
अर्चना कांतीलाल आढाव
7. Are Credit Rating agencies boost the financial crisis? -------- 26
Kiran Bala & Neha Arora
8. नाट्य रूपांतरण : प्रक्रिया और प्रयोग 32
मणि कुमार
9. जायसी की रचनाधर्मिता और भारतीय संस्कृति 36
संजीव सिंह
10. मोहन राकेश के नाटकों की आधुनिकता और प्रासंगिकता 39
प्रीति अग्रवाल
11. हिन्दी फिल्मों पर रंगमंच का प्रभाव : मेलोड्रामा के सन्दर्भ में 44
भावना
12. प्रसाद के नाटकों में अभिव्यक्त राष्ट्रवादी चेतना 54
दयाल प्यारी सिन्हा
13. शिवमूर्ति की कहानियों में सामाजिक यथार्थ 58
बीना मीना
14. मोहन राकेश : रंग-शिल्प एवं प्रयोगधार्मिता 63
दीना नाथ मौर्य
15. मोहन राकेश के नाटकों में चित्रित पुरुष और नारी 69
डिम्पल गुप्ता
16. रत्न कुमार सांभरिया कृत 'उजास' नाटक की रंगमंचीयता 73
पार्वती शर्मा चाँदला
17. मृदुला गर्ग की कहानियों के स्त्री-पात्र 76
अनिल शर्मा

नाट्यशास्त्रीय परम्पराओं का आधुनिकीकरण

अंकुश शर्मा
ड्रामा विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर, राजस्थान

21वीं शताब्दी में रंगमंचीय नाटकों में नाट्यशास्त्रीय पद्धतियों का निरन्तर आधुनिकीकरण होता जा रहा है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में जब भी हम नाट्य कला की बात करते हैं तो शुरुआत नाट्यशास्त्र से ही होती है। कला के उत्कृष्टतम रूप का सर्वप्राचीन भारतीय ग्रन्थ है – भरतमुनि का नाट्यशास्त्र। नाट्यशास्त्र को पंचम वेद की संज्ञा दी गई है जिसमें ताल, लय और भाव को जोड़कर नृत्य व अभिनय विकसित किया गया है। भरत के नाट्यशास्त्र पर अगर सरसरी निगाह से भी नज़र डालें तो हम चमत्कृत रह जाते हैं, क्योंकि समूचे रंगकर्म का ऐसा विविध और विस्तृत लेखा–जोखा किसी अन्य शास्त्र में एक जगह पर उपलब्ध ही नहीं है। नाट्यशास्त्र में नाट्यकला के अतिरिक्त संगीत, नृत्य, शिल्प तथा अन्य ललित कलाओं का भी विस्तृत रूप से उल्लेख किया गया है। नाट्यशास्त्र के बिना भारतीय नाट्यकला की कल्पना करना भी बेमानी है। भरत ने नाट्यशास्त्र में कला के जिन तत्त्वों का उल्लेख किया, उनके बाद के आचार्यों ने भी उसकी छाया में आकर ही अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया। इसमें शामिल चतुर्विध अभिनय, गीत, संगीत, पात्रों की भूमिका–चरित्र, नृत्य इत्यादि का वर्णन नाटक विषय की किसी भी अन्य किताब से कमतर नहीं ठहरते। भारतीय रंग परम्परा में अभिनय को लेकर प्राचीन काल से ही चर्चा–परिचर्चा होती रही है। हमारे यहाँ अभिनय की सबसे पहली परिभाषा भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है, जो स्वयं अभिनय शब्द में ही समाहित है। अभिनीयच, अभि उपसर्ग, नी धातु, यच् प्रत्यय के संयोग से अभिनय शब्द बना है, जिसका अर्थ है "की ओर ले जाना"। अभिनय ऐसी कला या माध्यम है जिसकी सहायता से अभिनेता कहानी को सामने बैठे दर्शकों तक लेकर जाता है।

अभिनय के उदय का इतिहास सृष्टि के आरम्भ के साथ ही हुआ जिसके शुरुआती स्वरूप से लेकर आज तक इसमें निरन्तर बदलाव आए हैं। प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक मानव सभ्यता के अवशेषों के सम्बन्ध में पुरातत्त्ववेत्ता एवं इतिहासकारों के निष्कर्ष के आधार पर यह सिद्ध होता है कि अभिनय कला के प्रति मानव जाति की उत्सुकता बहुत प्राचीन है। मनुष्य ने विकास के साथ–साथ अभिनय के स्वरूप में भी परिवर्तन किया। इस दृष्टि से विचार करने पर विश्वास होता है कि मानव सभ्यता के विकास की कहानी बताने वाले सभी पुरातन साधनों में अभिनय कला का विशेष योगदान रहा है। भारत में अभिनय कला के उदय और विकास की परम्परा का जन्म वैदिक काल में ही माना गया है। वेदों में ऐसे साक्ष्य मिलते हैं, जिससे पता चलता है कि उस युग में भी अभिनय किया जाता था। अभिनय की उत्पत्ति के अनेक आधार माने गए हैं। किसी ने अभिनय का उद्‌य वीर पूजा से माना है तो किसी ने ऋतुओं के बदलने को अभिनय का जन्मदाता माना है। कोई पुत्तलिका नृत्य से अभिनय के शुरू होने के तथ्य देता है तो कोई छाया नाटकों से अभिनय का आरम्भ मानते हैं। प्रसिद्ध थियेटर समीक्षक शेल्डान चेनी ने कहा है – "नाट्य कला का मूल, अनुकरण करने, चित्रण या किसी वीरता पूर्ण घटना का वर्णन करने की कला में छिपा हुआ है।" [1]

रंगमंच का सबसे प्रमुख तत्त्व है अभिनय। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि रंगमंच के इतिहास में अभिनय की परिभाषा, स्वरूप व प्रक्रिया को लेकर सबसे ज़्यादा चर्चा हुई है। पश्चिम में तकरीबन 2400 साल पहले अरस्तु ने कहा था कि "कला जीवन की अनुकृति है।" तब से लेकर आज तक अभिनय को हर कोण से जाँचा–परखा गया है। स्तानिस्लावस्की की अभिनय पद्धति हो या ब्रेख्त के बर्लिनर एनसेम्बल का अभिनय सिद्धान्त, ग्रोतोवस्की का पुअर थियेटर हो या फिर भारतीय नाट्य विचारकों का अभिनय के

प्रति दृष्टिकोण। बहरहाल, अभिनय से सम्बन्ध रखने वाले सभी कोणों में एक बात तो साफ तौर पर ज़ाहिर है कि मंच पर अभिनेता द्वारा दर्शक के लिए जो कुछ भी प्रस्तुत किया जा रहा है, वह दर्शक के लिए विश्वसनीय होना ही चाहिए।

"अभिनय प्रक्रिया के सन्दर्भ में विवेचन करते हुए रंग–चिन्तकों और आलोचकों ने दो अलग–अलग अवधारणाएँ प्रस्तुत की हैं। उनके अनुसार पश्चिम का अभिनय चरित्रपरक अर्थात् रिप्रेजेंटेशनल है और भारत की रंग परम्परा में अभिनय प्रस्तुतिपरक अर्थात प्रेजेंटेशनल है।"– [2] इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि पश्चिम में अभिनेता अपना चरित्र या भूमिका तैयार करने के लिए बाकायदा उस चरित्र को उसकी वेशभूषा, हाव–भाव, बोलने का तरीका एवं सोच के स्तर पर स्वयं आरोपित करता है अथवा हू–ब–हू बिल्कुल वैसा ही मंच पर दिखने का अभिनय करता है। जबकि हमारे यहाँ अभिनेता की एक पात्र के रूप में कल्पना की गई है। चरित्र के मुताबिक पात्र के अपने स्वरूप में कोई भी परिवर्तन नहीं होता।

इन दिनों रंगमंच में अभिनय के अलावा तकनीक का जो घालमेल दिखाई देता है, उसने रंगमंच के मायनों को पूरी तरह से बदलकर रख दिया है। यह तो साफ ज़ाहिर है कि रंगमंच के केन्द्र में अभिनेता मौजूद है और बिना अभिनेता के हम एक अच्छी प्रस्तुति की कल्पना नहीं कर सकते। किन्तु रंगमंच की इस पूरी यात्रा में अब अभिनय गौण होता–सा प्रतीत होता है। रंगमंच में प्रयोग को हमेशा से ही मान्यता दी गई है। इसलिए भारतीय मनीषियों ने हर मंचीय प्रस्तुति को प्रयोग कहा है। अब समय के साथ–साथ प्रयोग के तरीके भी बदल रहे हैं। थियेटर में धड़ल्ले से प्रयोग हो रहे हैं और प्रयोगात्मक थियेटर के नाम पर प्रस्तुति में केवल शिल्प रह गया है जबकि अभिनेता गायब हो गए हैं। इन दिनों रंगमंच व अन्य विधायें आपस में इतनी जुड़ गई हैं कि उनके योग के बिना प्रस्तुति, प्रस्तुति ही नहीं लगती। रंगमंच और अन्य विधाओं अथवा कलाओं के सम्बन्ध में स्व0 बी0 वी0 कारन्त जी का कथन उल्लेखनीय है – "नाट्य कला तो वेश्या है, नई–नई कलाओं से सम्बन्ध रखना, तोड़ना और फिर जोड़ना इसका धर्म है।" पिछले दिनों एन0एस0डी0 के अभिमंच सभागार में नाट्यशास्त्रीय पद्धति के आधुनिक होते स्वरूप को प्रत्यक्ष देखने का मौका मिला। विदुषी रीता गांगुली के निर्देशन में कालिदास का नाटक अभिज्ञान शाकुन्तलम् को नाट्यशास्त्रीय पद्धतियों के अनुरूप शुरू किया गया। नाट्यशास्त्रीय अहसास कराने के लिए सभागार के अन्दर हर जगह प्राचीन चित्रों का प्रयोग किया गया और छत को भी पुराने रंग–बिरंगे शामियाने से ढका गया। नाटक में नाट्यशास्त्रीय पद्धतियों का निर्वहन किया गया, लेकिन नाटक की मूल कथा से छेड़–छाड़ के साथ ही कई अतार्किक चीजों का समावेश कर इसे आधुनिक बनाने का प्रयास किया गया। नाटक के बीच में प्रोजेक्टर पर कुछ दृश्य दिखाए बिना ही नाटक का परिदृश्य खूबसूरत बन रहा था।

21वीं शताब्दी इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि इसमें भरत के समय से चली आ रही भ्रान्तियाँ टूटी हैं। 21वीं शताब्दी को विज्ञान का युग भी कहा जाता है। आजकल मंच पर विज्ञान का सहारा लेकर कला पक्ष को मज़बूती दी जा रही है तो वहीं ऐसा मानने वालों की भी कमी नहीं है कि तकनीक का सहारा अभिनेताओं के प्रशिक्षण को प्रभावित कर रहा है। अभिनय व्यक्तिगत होता है, इसमें किसी तकनीक का सहारा न लेना ही बेहतर है। तकनीक का प्रयोग मंच–सज्जा, प्रकाश आदि में तो शुरू से ही होता था, लेकिन अब तो अभिनय में भी होने लगा है। रंगमंच में इलेक्ट्रानिक मीडिया का प्रयोग भी प्रारम्भ हो चुका है। एलईडी प्रोजेक्टर, एल0सी0डी0 टेलीविज़न, कैमरे तथा अन्य आधुनिक उपकरण मंच पर प्रयोग होते हुए देखे जा सकते हैं। रंगकर्म के समूचे ताम–झाम में अभिनेता निरन्तर लघुतम होता गया है। रंगकर्म में इतने प्रयोग किए गए हैं कि आदिम रंगमंच से लेकर प्रयोगधर्मी रंगकर्म तक की यात्रा में अभिनेता से अभिनय नामक प्राणतत्त्व छीन कर उसे मशीन बना दिया गया है। रंगकर्मी को सामाजिक संरचना के ताने–बाने में रहना होगा। उनके द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा बौद्धिक प्रदर्शन का कर्मकांड रंगमंच की विफलता ही होगी। इतिहास साक्षी है कि पूर्व हो या पश्चिम, अभिनेता ही रंगमंच की मूल धुरी है।

भरत के नाट्यशास्त्र को भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही नहीं बल्कि पश्चिम के रंगचिन्तकों के लिए भी आधुनिक रंगमंच की प्रेरणा कहा जा सकता है, लेकिन अभिनय की नित नई आती शैलियों से नाट्यशास्त्रीय पद्धतियों का आधुनिकीकरण होता जा रहा है। इतना विस्तृत ग्रन्थ होने पर भी नाट्यशास्त्रीय अभिनय पद्धतियों का प्रयोग अब आधुनिक रूप ले रहा है। नाट्यशास्त्रीय पद्धतियों के आधार पर नाटक करने वालों की संख्या दिन–पर–दिन कम होती जा रही है।

सन्दर्भ

1) भारतीय नाट्यशास्त्र और आज का रंगमंच, रंगमंच और नाटक के उद्भव की कहानी, पृष्ठ 7, डॉ. विश्वनाथ मिश्र, उ0प्र0 हिन्दी संस्थान
2) रंग प्रसंग अभिनय विशेषांक, अंक 38, 39, अभिनय जन्म और कुछ जिज्ञासाएँ, पृष्ठ 41, देवेन्द्रराज अंकुर।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी : गांधीवादी मूल्यों के निकष पर

डॉ. गीता पाण्डेय
सहायक प्रोफेसर
मैत्रेयी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

सन् 1947 भारतीय इतिहास का महत्वपूर्ण वर्ष है, भारत की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन का प्रस्थान-बिन्दु यहीं से माना जाता है। स्वतंत्रता पश्चात की बदली स्थितियों ने साहित्य एवं साहित्यकारों के चिंतन-मनन की परिपाटी में भी परिवर्तन कर दिया। यहीं से व्यक्ति और समाज के विचार एवं शैली में भी एक नई परिवर्तन की शुरुआत होती है। यद्यपि साहित्यकार समाज का सबसे संवेदनशील व्यक्ति माना जाता है, वह अपने युग और परिवेश से सम्बद्ध रहकर युगानुरूप रचनाओं की सृष्टि करता है। समाज के सत-असत परिवेश से ही वह अनुकरण करअपनी विचारएवं शैली निर्मित करता है। समाज और व्यक्ति के इन्हीं अन्त:संबंधों एवं वैचारिकी का चित्रण स्वातंत्र्योत्तर कहानीकारों ने अपनी कहानियों में किया है। स्वातंत्र्योत्तर कहानियां आधुनिक जीवन-बोध को लेकर लिखी गई हैं, जिसमें आधुनिक जीवन से जुड़े नए धरातल जैसे समाज, राजनीति, सत्ता-शासन, अस्तित्व को खोजता आम आदमी, निजी स्वतंत्रता की कामना, धन-लिप्सा औद्योगीकरण, नारी की दयनीय अवस्था, दलित समस्या एवं चेतना आदि मुख्य रहे।

स्वातंत्र्योत्तर युग में कहानी का कथ्य कुंठा, मोहभंग की स्थिति, अकेलापन, विसंगति, विडम्बना, जीवन की यांत्रिकता के साथ-साथ महानगरों की दौड़ती जिंदगी, मूल्य विघटन, व्यक्ति की मानसिकता में हो रहे बदलाव, रहन-सहन में बढ़ती भौतिकता आदि विषयों पर केन्द्रित रहा। इस सामाजिक उतार-चढ़ाव के साथ-साथ कहानीकारों ने राजनीतिक वैमनस्यता को भी अपनी कहानियों में स्थान दिया। इस युग में आकर कहानी विभिन्न प्रवृत्तियों में बंट गई। कहानियों में राजनीतिक कहानी, सामाजिक कहानी, मनोवैज्ञानिक कहानी, ऐतिहासिक कहानी आदि कहानियों में समाज के विभिन्न कथ्य और विषय को प्रस्तुत करने का कार्य इस काल के कहानीकारों ने किया। तत्कालीन युग में जो विचारधाराएँ चल रही थीं, उन सभी विचारधाराओं का सफल निष्पादन स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानियों में हुआ। इन विचारधाराओं में मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद आदि प्रमुख रहे हैं, लेकिन इन विचारधाराओं के साथ कुछ ऐसी विचारधाराएं भी थीं, जो मुख्यधारा में तो नहीं थी फिर भी साहित्य में अपना स्थान और महत्व बनाए रखें हुए थीं। ऐसी ही एक विचारधारासाहित्य में दृष्टिगत हुई जिसे 'गांधीवाद' के रूप में स्वीकार किया गया।

वैसे तो गांधीवाद को विचार या मत न कहकर एक पूर्ण दर्शन माना जाता है। जिसने आज भी अपने महत्व को बरकरार रखा है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानियों में भी गांधीवादी विचार और उनके मूल्यों के दर्शन होते हैं। गांधीजी जैसा स्वयं भी मानते हैं कि वे अपने विचारों को किसी मत या वाद में नहीं बांधना चाहते, वे तो शाश्वत मूल्य हैं 'जो हमारी संस्कृति में प्राचीन काल से विद्यमान हैं, गांधी के इन्हीं विचारों को हम राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सैद्धांतिक रुप में देख सकते हैं।'[1]

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी में गांधी के राजनीतिक मूल्यों को निरूपित किया गया है। गांधी जी ने भारत की स्वतंत्रता को लेकर जिन आंदोलनों की योजना की, वे सभी आंदोलन स्वतंत्रता के बाद भी समाज सुधार और सरकार को चेताने के लिए काम आए। आज भी 'स्वदेशी अपनाओ' का नारा सटीक सिद्ध होता है, क्योंकि आज भी भारत विदेशी उत्पादनों के भ्रम-जाल में फंसता चला जा रहा है। इसी वैचारिक भावभूमि को हिन्दी कहानियों में भी प्रयुक्त किया गया है। अमृत राय की कहानी 'अंधी लालटेन' कहानी में स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने पर बल दिया गया है। 'आजकल बड़ी हलचल है ना दिन देखें ना रात। बड़ा शोर मचता है। आसपास की गलियों से और न जाने कहां-कहां से लोग बटुर आते हैं। औरतें भी, मर्द भी, झण्डा लेकर निकल पड़ते हैं सब, दो-दो सौ, चार चार सौ बड़े जोर से चिल्लाते हैं सब, गला भी नहीं फटता हर तीसरे चौथे दिन। एक दिन तो बड़े जोर की होली जली.... बिलायती कपड़ा सबके घरों से निकाल कर आग लगा दी। रायबहादुर

साहब की लड़कियों ने भी अपने कपड़े दे दिए।'[2] स्वदेशी प्रेम की ऐसी बानगी अन्य कई कहानियों में दिखाई देती है।

स्वदेशी आंदोलन के साथ-साथ राष्ट्र-प्रेम, देशभक्ति जैसी भावनाएं भी स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में लक्षित होती है। इनमें भगवती चरण वर्मा की 'दो पहलू', महेंद्र कुमार मुकुल की 'बलिदान', आनंद प्रकाश जैन की 'कांसे का आदमी', भैरव प्रसाद गुप्त की 'मां', 'स्मारक', 'मास्टर जी' और 'नौकरानी'। आज की कहानियों में भी देश-प्रेम की भावना के दर्शन होते हैं, जिसमें अखिल कुमार मिश्र की कहानी 'पैसा' प्रमुख है। जिसमें देश को खोखला बनाने की बात कही गई है। राष्ट्र-प्रेम के साथ वर्तमान युगीन कहानियों में सांप्रदायिक एकता को भी स्थान दिया गया है। आज भारत के समक्ष सांप्रदायिक-एकता की भावना चुनौती के रूप में विद्यमान है। भारत में विभिन्न धर्मों के लोगों का वास है, इन सभी धर्मों के बीच आपसी सौहार्द बना रहे, इसकी जिम्मेदारी जागरूक साहित्यकार की भी है। आज के कहानीकार ने अपनी कहानियों में हिंदू-मुस्लिम एकता को बल दिया है। बदीउज्जमां ने 'अंतिम इच्छा' कहानी में हिंदू मुस्लिम एकता के साथ-साथ राजनीतिक प्रपंच को भी प्रस्तुत किया है।

राजनीतिक विचार पक्ष के अंतर्गत असहयोग आंदोलन, हृदय-परिवर्तन, स्वराज जैसे सिद्धांतों को स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में पर्याप्त महत्व दिया गया है। स्वातंत्र्योत्तर कहानी में सामाजिक पक्ष के अंतर्गत महिला सुधार, नारी जागरण, अस्पृश्यता जैसी समस्याओं को चित्रित किया गया है। स्वातंत्र्योत्तर युगीन कहानियों में महिला और उससे जुड़ी अनेक समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। जिसमें दहेज प्रथा, विधवा विवाह, वेश्या समस्या आदि प्रमुख हैं। वेश्या समस्या नारी-जीवन की एक बहुत बड़ी विडंबना है, जिसे महेंद्र कुमार मुकुल ने अपनी कहानी 'नारी वेश्या नहीं देवी है' में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही समाज के द्वारा की गयी पहल को भी दिखाया गया है। आर्थिक तंगी के कारण वेश्यावृत्ति के पेशे में आई महिला को रोजगार के उचित अवसर देकर समाज में उसे सम्मानजनक स्थिति प्रदान की जाए। 'पंचों हमारा जीवन अभी तक पाप के गर्त में पड़ा हुआ सड़ रहा था। समाज की अन्य स्त्रियों की भांति हमारा कोई मूल्य और आदर्श नहीं था, समाज का चाहे जो पुरुष चांदी के चंद सिक्कों में हमारा शरीर खरीद लेता था। अब सरकार के नए कानून से ऐसा लग रहा है कि जैसे हमारा अपमानित जीवनपाप के घोर अंधकार से निकलकर जीवन के नए प्रकाश में आ गया हो। समाज का कोई भी व्यक्ति हमको मार्ग का पत्थर समझकर ठोकर मार कर आगे नहीं बढ़ सकता, मेरा चेहरा अब तक भ्रम के आवरण से ढ़का हुआ था। आज मेरे मुख से कलंक और पाप का पर्दा हट गया है। पंचों अब मैं मेहनत और मजदूरी करके पेट भरूंगी।'[3] इस संवाद से स्पष्ट है कि वेश्या जीवन की विडंबना को मर्मस्पर्शी रूप में प्रस्तुत किया गया है। समाज किस प्रकार स्त्री का शोषण करता है और फिर अंधकारमय जीवन की ओर धकेल देता है, लेकिन स्त्री इस दलदल से बाहर आना चाहती है। जहां भी उसे उम्मीद की छोटी सी किरण दिखाई देती हैवह उसके सहारे नए प्रकाश और नई रोशनी के साथ जीवन को जीना चाहती है। इसी प्रकार अमृतलाल नागर की कहानी 'हाजी कुल्फी वाला' में वेश्या-समस्या को किस प्रकार समाप्त किया जाए, इस पर चर्चा की गई है। कमलेश्वर की 'मांस का दरिया' कहानी वेश्या समस्या पर आधारित बहुचर्चित कहानी है, जिसमें वेश्यावृत्ति के जंजाल में फंसी स्त्री की करुणा और व्यथा को बड़े ही मार्मिक रूप में चित्रित किया गया है। भगवती चरण वर्मा की कहानी 'उत्तरदायित्व' भी ऐसी कहानी है जिसमें यह दिखाया गया है कि स्त्री को वेश्यावृत्ति के व्यवसाय में धकेलने का जिम्मेदार पुरुष समाज ही होता है, 'मनुष्य के भविष्य से खेलना, मनुष्य के प्राणों से खेलना..... इस पर आपको आश्चर्य होता है, पर मैं आपसे पूछती हूं, कौन इनसे नहीं खेलता? क्या पुरुष स्त्री के प्राणों से नहीं खेलता? क्या वह स्त्री को गुलाम बनाकर रखना नहीं चाहता? मिस्टर रंजन अपने समाज में आप वेश्याओं का स्थान तो जानते ही होंगे। ये वेश्याएँ हैं कौन? ये वेश्याएँ भी कभी सच्चरित्र युवतियाँ थीं, जो सुख चाहती थीं और प्रतिष्ठा चाहती थी पर इनमें से प्रत्येक के साथ किसी न किसी पुरुष ने सबसे पहले खेला है और उस पहले खेल से संतुष्ट न होकर पुरुष जाति ने उनके जीवन भर के लिए उनको खिलौना बना लिया है। और भी सुनेंगे आप, यह जो नवयुवकों की भीड़ मेरे दरवाजे पर हाजिरी बजाती है, इनमें से अधिकांश मुझे खिलौना बनाकर खेलना चाहते हैं।'[4] इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर कई कहानियों में वेश्या समस्या को उठाया गया है। कृष्णा सोबती की 'आजादी शम्मोजान की', निशा गहलोत की 'एक कहानी का जन्म', सोमावीरा की 'धरती की बेटी' आदि उल्लेखनीयहैं।

गांधी जी के विचारों के सामाजिक पक्ष के अंतर्गत जो विचार आते हैं, उनसे प्रभाव ग्रहण करके हिन्दी

कहानीकार अपनी कहानियों में विधवा-विवाह का समर्थन करते दिखाई देते हैं। अनेक कहानीकारों ने इस समस्या को उठाया है, जिनमें महेंद्र कुमार मुकुल की कहानी 'एक कथानक:एक व्यथा', शिव प्रसाद सिंह की 'कर्मनाशा की हार', सोमावीरा की कहानी 'धरती की बेटी', गंगा सहाय प्रेमी की 'उचित निर्णय'आदि कहानियां विधवा-विवाह का समर्थन करती हैं। साथ ही दहेज प्रथा का निषेध, अंतर-जातीय विवाह का समर्थन, नारी-जागरण जैसे विषय को चुनकर पाठक वर्ग को जागृत करने का प्रयास इस युग के कहानीकारों ने किया।

स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में गांधी जी के विचारों के आर्थिक पक्ष के अंतर्गत खादी, चरखा, ग्रामीण उद्योगों का विकास, सर्वोदय आदि विषयों पर बहुत अधिक उदाहरण तो नहीं मिलते, किन्तु कुछ कहानियां इन विचारों को अवश्य पोषित करती हैं। गांधीजी ने सदैव ही गांव के विकास पर विशेष बल दिया है। वे चाहते थे कि शहरों के विकास के साथ गांव का भी विकास किया जाए। गांधी जी जिस सपनों के भारत की बात करते हैं, वह गांवों में ही बसता है, 'मेरा विश्वास है और मैंने इस बात को असंख्य बार दुहराया है कि भारत अपने चंद शहरों में नहीं, बल्कि सात लाख गांवों में बसा हुआ है। लेकिन हम शहरवासियों का ख्याल है कि भारत शहरों में ही है और गांवों का निर्माण शहरों की जरूरतें पूरी करने के लिए हुआ है। हमने कभी यह सोचने की तकलीफ ही नहीं उठाई कि उन गरीबों को पेट भरने जितना अन्न और शरीर ढकने जितना कपड़ा मिलता है या नहीं, और धूप तथा वर्षा से बचने के लिए उनके सिर पर छप्पर है या नहीं।'[5]

स्वातंत्र्योत्तर कहानीकारों ने गांवों की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया है। शमशेर सिंह नरुला की कहानी में गांधीजी की गांव संबंधी विचारों को भलीभांति प्रस्तुत किया गया है। 'भारत में 7 लाख ग्राम है, यदि 7 लाख युवक अपने जीवन को उनके उत्थान और पुनर्निर्माण के लिए अर्पण कर दें तो दस-पंद्रह वर्ष में ही इस अभागे देश की काया पलटी जा सकती है।'[6] इसी प्रकार ख्वाजा अहमद अब्बास की 'गेहूं और गुलाब' कहानी गांव का विकास कैसे किया जाए, फणीश्वर नाथ रेणु की कहानी 'सिर पंचमी का शगुन' में गांव के विकास में जिस नवीन चेतना का प्रयोग किया जा रहा है, साथ ही लोग जिससे प्रभावित हो रहे हैं, उसे चित्रित किया गया है। रेणु की 'उच्चाटन' कहानी में गांव को लेकर गांधी जी के विचारों की पुनर्व्याख्या की गई है। 'ठेस' कहानी में ग्रामीण उद्योगों के विषय में भी चर्चा की गई है।

खादी और चरखे ने स्वतंत्रता आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, जहां यह आत्म-निर्भरता की प्रतीक है, वहीं ये ग्रामीण कुटीर उद्योगों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में भी खादी और चरखे को स्थान दिया गया है। ख्वाजा अहमद अब्बास की कहानी 'भारत माता के पांच रूप', जिसमें खादी के प्रति मोह को प्रस्तुत किया गया है। चरखे को स्वावलंबन के रुप में महेंद्र कुमार मुकुल की कहानी 'बलिदान' और 'नारी वेश्या नहीं देवी है' में चित्रित किया गया है। स्वरूप बख्शी की कहानी 'ठंडी मशीन' में खादी का समर्थन मिलता है। रामदरश मिश्र की कहानी 'सड़क' में कहानीकार का खादी प्रेम दिखाया गया है, उनकी 'मुक्ति' कहानी में खादी आर्थिक आत्मनिर्भरता का आधार माना गया है। स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में खादी और चरखा को समाज में राष्ट्रीय-जागरण और आर्थिक स्वावलंबन के लिए प्रयुक्त किया गया। वास्तव में खादी और चरखे जैसे कुटीर उद्योग का प्रयोग कर हम राष्ट्र के आर्थिक विकास में योगदान दे सकते हैं। गांधी जी द्वारा बताए गए आर्थिक पक्षों में सर्वोदय, वर्ग-सहभागिता, गौरक्षा आदि विषयों को स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में स्थान मिला है।

स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में गांधीजी के सैद्धांतिक पक्ष को भी यथेष्ट स्थान दिया गया है, जैसे- सत्य अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि। सत्य के विषय में गांधीजी का मत है कि 'सत्य अर्थात परमेश्वर- यह सत्य का पर अथवा उच्च अर्थ है। अपर अथवा असाधारण अर्थ में सत्य के मानी हैं सत्यआग्रह, सत्य विचार, सत्य वाणी सत्य कर्म।'[7] इसी सत्य की प्रतिष्ठा कहानीकार स्वरूप कुमारी बख्शी ने 'कौड़ियों का नाच'कहानी में करते हैं। इस कहानी के पात्र नंद कुमार द्वारा सत्य को प्रतिपादित किया गया है, जब नायक असत मार्ग पर चलता है तो उसकी स्वर्गवासी मां सपने में आकर उसे सही मार्ग प्रशस्त करती है- 'तू इसको अपनी जीत समझता है रे! बेईमानी, फरेब,जालबट्टा, धोखाधड़ी से जीत की बाजी तेरी सबसे बड़ी हार है।.... अरे सत्य का सहारा पकड़ लो, प्रकाश के पथ पर चलो....।'[8] इसी प्रकार वासुदेव आठले ने 'मानवता की भेंट' कहानी में गांधीवादी विचारों को पल्लवित किया है, 'उसका विश्वास था कि सत्य एक है, केवल उसे देखने वालों के दृष्टिकोण भिन्न हैं, वहां तक पहुंचने के मार्ग भिन्नहैं, यदि वास्तव में सभी शास्त्र सत्य की खोज में लगे हुए

हैं तो एक ना एक दिन वे सही मार्ग पर आ जाएंगे।'[9]

आनंद प्रकाश जैन की 'सेल्यूकस की बेटी', 'देशद्रोही', अमृत राय की 'प्राकृत', बलदेव उपाध्याय की 'प्रेम की साधना' आदि उल्लेखनीय हैं। वर्तमान युगीन कहानियों में भी 'सत्य' के दर्शन होते हैं। चैतन्य भट्ट की कहानी 'रंग में भंग' में सत्य की महिमा को प्रस्तुत किया गया है। 'सत्य ही परम धर्म है। आशा है आप उसका पालन अवश्य करेंगे। मेरी याचना केवल इतनी है कि आप इन निरीह पशुओं को मुक्त कर दीजिए।'[10]

'अहिंसा' मूल्य भी 'सत्य' के बराबर की व्यापक है। अहिंसा की सिद्धि हुए बिना सत्य की सिद्धि होना अशक्य है। इसलिए सत्य का ेभिन्न रीति से देखें तो वह अहिंसा की पराकाष्ठा ही है। पूर्ण सत्य और पूर्ण अहिंसा में भेद नहीं है, फिर भी समझाने के सुभीते के लिए, सत्य, साध्य और अहिंसा साधन मान ली गई है।[11] गांधीजी ने अहिंसा के जिस उपर्युक्त महत्व को प्रतिपादित किया है, वही महत्व स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानीकारों ने भी स्थापित किया है। आनंद प्रकाश जैन की कहानी 'देवताओं की चिता' में अहिंसा का महत्व व्याख्यायित किया गया है, 'सब प्रकार की हिंसा का त्याग करके ही मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। मानव को मानव पर हिंसा का प्रयोग करने का अधिकार नहीं है। इस कारण दया का पात्र निश्चित करते समय यह जानने की आवश्यकता है कि उसका अपराध क्या है। हिंसा ना हो यही सर्वप्रथम कर्तव्य है।'[12] बलदेव उपाध्याय की कहानी 'अधिकार का रहस्य' में अहिंसा के महत्व को प्रतिपादित किया गया है। स्वतंत्रता के बाद की कई कहानियों में अहिंसा के इस तत्व को प्रस्तुत किया गया है। पारसनाथ सरस्वती की कहानी 'अहिंसा की विजय'भी इसी प्रकार की रचना है, जिसमें अहिंसा के मूल्य तथा उसकी विजय को अभिव्यक्त किया गया है।

समग्रत: गांधीवादी मूल्यों एवं विचारों के आधार पर स्वातंत्र्योत्तर युगीन कहानियों के विभिन्न पक्षों पर विवेचन-विश्लेषण के पश्चात यह स्पष्ट होता है कि स्वातंत्र्योत्तर युगीन अनेक कहानियों में गांधीवादी मूल्यों की अभिव्यक्ति की गई है। गांधीवाद के तमाम सिद्धांतों को विभिन्न साहित्यकारों ने अपनी विविध रचनाओं में स्थान दिया है।अनेक कहानीकारों ने अपनी कहानियों में गांधीवादी मूल्यों को विशेष स्थान तो दिया ही है, साथ ही 'गांधीवाद' की कसौटी पर भी परखने की कोशिश की है। अंतत: यह कहा जा सकता है कि वर्तमान संदर्भ एवं युग में भी गांधीवादी विचारों की प्रासंगिकता स्वयंसिद्ध है।

संदर्भ सूची

1. विशिष्ट साहित्यिक एवं प्रतियोगी निबंध डॉक्टर भगवान दास चरण भारद्वाज पृष्ठ 181
2. चतुरंग- श्री अमृत राय पृष्ठ-17
3. एक कथानक:एक व्यथा- श्री महेंद्र कुमार मुकुल- पृष्ठ 75-76
4. मेरी प्रिय कहानियां- भगवती चरण वर्मा पृष्ठ 78
5. गांधी जी ने कहा था- गांधीजी पृष्ठ 58-59
6. आधी रात का सूरज- शमशेर सिंह नरुला, पृष्ठ 25
7. गांधी विचार दोहन- किशोर लाल मशरुवाला पृष्ठ15
8. स्वरूप कुमारी बख्शी ग्रंथावली- पृष्ठ-33
9. गल्प तालिका- संपादक दुर्गादत्त मेनन, पृष्ठ 246
10. सरिता- नवंबर 1975,पृष्ठ-67
11. गांधी विचार दोहन- किशोर लाल मशरुवाला, पृष्ठ16
12. देवताओं कीचिता-आनंद प्रकाश जैन

हिन्दी नाटक और रंगमंच के आईने में मोहन राकेश

डॉ॰ चन्द्रप्रकाश मिश्र
मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय
नई दिल्ली-110021

हिन्दी नाटक ने एक लम्बी यात्रा तय की है। इस लम्बी यात्रा के विभिन्न सोपानों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, जगदीशचन्द्र माथुर, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा आदि ने अपने-अपने स्तर पर नाट्य-संरचना और रंगमंचीयता पर विचार किया है। मोहन राकेश इन नाट्यकारों में नाट्य-संरचना और रंगमंचीय समझ के कारण अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। यहाँ यह कहना उचित होगा कि "हिन्दी नाटक और रंग-आकाश में राकेश की पहचान कुछ वैसी ही है, जैसे ध्रुवतारे की, सबसे अलग, निश्चित और अटल।"[1]

मोहन राकेश ने नाटक को सच्चे अर्थों में नाटक सिद्ध किया, विशेषकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद। भारतेन्दु के बाद जयशंकर प्रसाद का नाम नाटक के क्षेत्र में सम्मान के साथ लिया जाता है। जयशंकर प्रसाद के नाट्य-क्षेत्र में पदार्पण करने से नाटक का साहित्यिक पक्ष तो समृद्ध हुआ, लेकिन पारसी रंगमंच की भौंड़ी प्रस्तुति के विरुद्ध नाटक-रचना के कारण उसके रंगमंचीय पक्ष में कमी आई। यही नहीं, प्रसादजी के नाटक पारसी रंगमंच की प्रतिक्रियास्वरूप रचित होने पर भी पारसी रंगमंच के प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। उनके अधिकांश नाटकों का रूपबन्ध और रंग-विधान पारसी रंगमंच के नृत्य, गीत, दरबारी वातावरण आदि को लिये हुए हैं। साहित्यिकता, काव्यात्मकता, इतिहास और आधुनिकता बोध का समन्वय, आदर्श चरित्रांकन और उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व आदि प्रसाद जी के नाटकों की ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका अनेक नाटककारों ने अनुसरण किया। यह बात और है कि प्रसाद अपने नाटकों के रचना-विधान के अनुरूप रंग-शैली को सामने नहीं ला सके। मोहन राकेश भी प्रसाद के नाटकों से अनभिज्ञ नहीं थे, लेकिन नाट्य-रचना और उसके प्रस्तुतीकरण की दृष्टि उनकी अपनी थी। वास्तव में मोहन राकेश इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि यदि नाटक को लोकप्रिय बनाना है और जन-मन के करीब लाना है तो उसे रंगमंचीय प्रस्तुति के अनुरूप बनाना होगा। अपने इस प्रयास में मोहन राकेश को काफी हद तक सफलता भी मिली। उनके सभी नाटक, चाहे वह 'आषाढ़ का एक दिन' हो या 'लहरों के राजहंस' या 'आधे-अधूरे' आदि, सभी में वे इस दृष्टि से पूरी तरह सफल रहे हैं। इन नाटकों में उन्होंने प्राचीन नाट्य-परम्पराओं का बदलते समय और समाज के अनुरूप व्यवहार किया है। उनके नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' ने हिन्दी नाटक और रंगमंच को वह आलोक दिया जो भारतेन्दु के बाद लुप्तप्राय हो गया था। "इसके बहुसंख्य प्रदर्शनों ने अपने-अपने नगरों तथा प्रदेशों तक सीमित छुटपुट रंग-प्रयोगों वाले हिन्दी रंगमंच को एक सूत्र में बाँधकर उसे आन्दोलन का रूप प्रदान करने में सहयोग किया। हिन्दी नाटक और रंगमंच को नई गरिमा, प्रतिष्ठा तथा व्यापकता प्राप्त हुई। इस कार्य में केवल राकेश के नाटकों का ही नहीं, उनके उत्साही, समर्पित और उत्प्रेरक व्यक्तित्व का योगदान भी कम उल्लेखनीय नहीं है।"[2] यही कारण है कि हिन्दी के प्रखर आलोचक डॉ॰ नामवर सिंह ने भी यह व्यक्त किया कि "राकेश के आगमन से पूर्व हिन्दी रंगमंच की सम्भावनाओं का पता नहीं चलता था। उन्होंने पहली बार सिद्ध किया कि नाटक गंभीरता से लेने की कला है।"[3]

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मोहन राकेश नाटक और रंगमंच की ओर क्यों मुड़े? इसका एक कारण तो यह है कि वे साहित्य-विधा के रूप में कहानी में अपनी बात कहने में उतने सक्षम नहीं पा रहे थे, जितना नाटक में सम्भव था। उन जैसे सृजनशील लेखक की पूरी सम्भावनाएँ कहानी-लेखन में व्यक्त नहीं हो पा रही थीं। उन्होंने अपने नाटक 'लहरों के राजहंस' की कहानी को 1946-47 में कहानी के रूप में प्रस्तुत किया था। बाद में कहानी उन्हें अधूरी लगी और उन्होंने उसे रेडियो नाटक के रूप में ढाला। फिर भी उन्हें सन्तुष्टि नहीं मिली और उन्होंने इसे 'लहरों के राजहंस' में नाटक के रूप में साहित्य-संसार में प्रस्तुत किया। इसके प्रथम प्रकाशन के बाद भी अनेक संशोधन होते रहे। दूसरे कारण की ओर ख्यातिप्राप्त कथाकार मन्नू भंडारी ने अपने एक

संस्मरण 'कितने कमलेश्वर' में लिखा है। उनका मानना है कि नई कहानी के तीन प्रमुख रचनाकारों मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर के प्रभाव में 'साठोत्तरी कहानी' के कहानीकारों के आगमन से कमी आ रही थी। 'साठोत्तरी कहानी' के उभरते कहानीकार "अपने दम-खम पर खड़े ही नहीं थे बल्कि नए कहानीकारों और उनकी कहानियों को हाशिये पर सरकाकर कहानी के केन्द्र में भी आ गए थे, कहानी के प्रतिष्ठित आलोचक भी उनकी कहानियों पर बोलने-लिखने लगे थे। स्थिति को देखते हुए राकेश जी ने अपनी विधा ही बदल दी और वे नाटकों की ओर मुड़ गए। काफी पहले उनका नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' बहुत लोकप्रिय तो नहीं, चर्चित, पुरस्कृत और मंचित भी हो चुका था। यहाँ उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था और उनके लिए बड़ा आश्वस्तिदायक था यह क्षेत्र। इधर मुड़कर उन्होंने 'आधे अधूरे' नामक जो नाटक लिखा उसने तो धूम मचा दी। बहुत कुछ तो नाटक के कारण और कुछ धूम मचाने की कला में उनकी सिद्धहस्तता के कारण, जो भी हो वे नाटक के क्षेत्र के सिरमौर बन गए थे।" अन्यत्र उनका कथन है कि "अपनी श्रेष्ठता को लेकर राकेश जी हमेशा बहुत सजग, बहुत चौकस रहते थे।"[4] वास्तव में विधागत मौलिकता, शक्ति, भाषा की जीवन्तता और सर्जनात्मकता के प्रति सतर्कता के कारण मोहन राकेश के लिए नाटक सदैव एक चुनौती था।[5] यहाँ यह कहना उचित होगा कि मोहन राकेश कैसे भी नाटक की विधा में आए हों लेकिन उन्होंने हिन्दी नाटक को स्थापित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। चाहे उसका कारण उनकी अतृप्त रचनाशीलता रही हो या उनके श्रेष्ठ बनने की कामना या किसी नई साहित्य-विधा में स्वयं को स्थापित करने की इच्छा, लेकिन उससे हिन्दी-साहित्य का भला ही हुआ, विशेषकर हिन्दी नाटक का।

मोहन राकेश ने हिन्दी रंगमंच को विकसित करने और नाटय-सर्जना को सर्वप्रिय बनाने में अपने पूर्ववर्तियों धर्मवीर भारती और जगदीशचन्द्र माथुर की नाट्य-शैली का अनुकरण किया। डॉ॰ नरनारायण राय का कथन है कि "यदि माथुर और लाल को एक नई परम्परा शुरू करने का श्रेय प्राप्त है तो उन दोनों की परम्परा की असीम सम्भावनाओं के द्वार खोलने का श्रेय राकेश को जाता है।"[6] उन्होंने अपने पहले दो नाटकों में जगदीशचन्द्र माथुर का अनुगमन किया और 'आधे-अधूरे' में लाल के 'मादा कैक्टस' की परम्परा का।

जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल और मोहन राकेश से पूर्व हिन्दी नाटक पाठ्य अधिक थे और दृश्य कम। घटनाओं, पात्रों, अंकों और दृश्यों की अधिकता, अनेक मुद्दों को एक साथ प्रस्तुत करने की चाह ने नाटक को रंगमंचीयता की दृष्टि से अप्रभावी बना दिया था। ऐसे समय में जगदीशचन्द्र माथुर ने नाटक को उस जाल से बाहर निकाला और मोहन राकेश ने उसे पूर्णता प्रदान की और सार्थक बनाया। माथुर ने अपने नाटकों की कथावस्तु को ऐतिहासिकता का आश्रय लेकर कल्पना के आवरण में प्रस्तुत किया और दृश्यन्धों, पात्रों तथा घटनाओं की भरमार से अपने नाटकों को बचाया। अंक भी कम किए और नाटक को विस्तृति से दूर रखा। उनके इस योगदान को हिन्दी नाटक में भुलाया नहीं जा सकता। इसीलिए उनके नाटकों की रंगमंचीय प्रस्तुति सम्भव हो सकी। नाटकों की रंगमंचीय प्रस्तुति तो पहले भी होती थी, लेकिन उसके लिए अधिक प्रयास और संसाधन अपेक्षित थे। वास्तव में माथुर के नाटकों से नाटक और रंगमंच का सम्बन्ध बना। "अब तक साहित्यिक नाटक जो रंगमंच से एकदम दूर अलग-थलग पड़े थे, 'कोणार्क' के द्वारा रंगमंच से पहली बार जुड़े।"[7]

माथुर के योगदान को मोहन राकेश ने पूरी तरह आत्मसात किया, लेकिन उसमें अपने स्तर पर बदलाव भी किए। यह राकेश की नाटकीय समझ का परिचायक है। डॉ॰ नरनारायण राय ने उचित ही लिखा है कि "राकेश ने माथुर के इस प्रयास को और अधिक विकसित, परिमार्जित और विस्तृत किया, उसे नए-नए आयामों से जोड़ा।"[8] उनके पहले दो नाटकों में इसीलिए ऐतिहासिकता नाम मात्र की है। उन्होंने ऐतिहासिक घटना न लेकर आवश्यकतानुसार कम-से-कम मुख्य पात्र इतिहास से लिए और कहानी और संवेदना मानव-जीवन के उधेड़बुन की रखी। यहाँ वे माथुर की परम्परा से अपने को अलग रखते हैं और प्रसाद के गौरवपूर्ण अतीत की प्रस्तुति से दूर दिखाई देते हैं। यहाँ घटनाएँ, परिस्थितियाँ, मानसिकता, प्रतिक्रियाएँ, संघर्ष आदि जो भी व्यक्त हुआ है, उभरा है, वह नाटककार का है उसका अपना, नितान्त निजी। नाटकों में प्रस्तुत पात्रों के ऐतिहासिक जीवन से नाटककार को कोई सरोकार नहीं है। वे इतिहास का आश्रय लेकर उससे मुक्त होने की ओर तत्पर थे और 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'लहरों के राजहंस' इसके प्रमाण हैं। सच तो यह है कि मोहन राकेश "ने अपनी रचनाओं के द्वारा पात्रों का एक अलग इतिहास गढ़ा और इस प्रकार अतीताश्रित नाटक लिखते हुए भी माथुर की नई परम्परा को एकदम भिन्न पटरी पर दौड़ा दिया।"[9] डॉ॰ ब्रजराज किशोर का कथन है कि "राकेश ने समकालीन जीवनानुभवों को सही परिप्रेक्ष्य में समझने और भविष्य को सही दिशा-संकेत देने के लिए इतिहास की जानकारी

आवश्यक मानी और इतिहास को अपनी प्रथम दोनों नाट्य कृतियों में अपनाया, लेकिन इस अन्तर के साथ कि इतिहास की अर्थवत्ता को नया प्रकाश और आयाम मिल सके, उन्होंने अपने पूर्ववर्ती रचनाकार जयशंकर प्रसाद, रामकुमार वर्मा आदि से नितान्त भिन्न स्तर पर व्यतीत अतीत का इस तरह प्रयोग किया कि युगीन सन्दर्भ और परिवेश अपनी समग्रता में अभूतपूर्व ढंग से मुखर हो उठे।"[10]

राकेश रंगमंच के मुहावरे के लिए लगातार प्रयासरत रहे। श्यामानन्द जालान के साथ मिलकर 'लहरों के राजहंस' पर चर्चा करना और उसमें बदलाव लाना उनके रंगमच के प्रति लगाव को तो व्यक्त करता ही है, एक नाटककार की नाटक और रंगमंच के प्रति समझ को भी सामने लाता है। उन्होंने इस नाटक का तीसरा अंक पुनः लिखा और श्यामानन्द जालान से उसका रिहर्सल करवाया लेकिन तब भी उन्हें नाटक के उस अंक से सन्तुष्टि नहीं हुई। 1968 में इस अंक को फिर से लिखकर नाटक का नया संस्करण प्रकाशित करवाया, उसके बाद भी अनेक परिवर्तन इस अंक में किए और अपने अन्तिम रूप में यह अंक 1976 के संस्करण में प्रकाशित हुआ।[11] मोहन राकेश ने यह निस्संकोच स्वीकार भी किया है कि "बिना रात-दिन श्यामानन्द के साथ नाटक के वातावरण में जिए, आधी-आधी रात तक उससे बहस-मुबाहिसें किए और नाटक की पूरी अन्विति में एक-एक शब्द परखे, यह अंश अपने वर्तमान रूप में कदापि नहीं लिखा जा सकता था। कम-से-कम हिन्दी नाटक के सन्दर्भ में शायद पहली बार लेखन और प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया को उस रूप के साथ जोड़ा जा सका था। इसे सम्भव बनाने के लिए जो अनुकूल वातावरण मुझे वहाँ मिला था, मैं समझता हूँ, उसी तरह के वातावरण में रंगमंच की वास्तविक खोज की जा सकती है-लेखन के स्तर पर भी और परिचालना के स्तर पर भी।"[12] यही वह बिन्दु है जब आलोचकों को मोहन राकेश को हिन्दी नाटकों का मसीहा, अग्रदूत, रंगशिल्पी कहने को बाध्य होना पड़ता है और यह कहना पड़ता है कि हिन्दी नाटक को उन्होंने 'प्रौढ़ता के उच्चतम शिखर' पर पहुँचाया।[13] मोहन राकेश के नाटकों में दृश्यत्व लगातार बढ़ता गया है जो उन्हें समकालीन नाटककारों में श्रेष्ठ बनाता है।

राकेश रंगयुक्तियों के कुशल प्रयोग में दक्ष थे। उन्होंने 'आधे अधूरे' में सूत्रधार जैसी पुरानी युक्ति का अत्यधिक प्रभावशाली प्रयोग किया। यद्यपि लाल इस क्षेत्र में पहले आए और आत्मनिरीक्षण और व्यक्तित्वों की टकराहट को उजागर किया, लेकिन राकेश ने उसे नए आयाम दिए जो नाटक को लोकप्रिय बनाने में लाभदायक सिद्ध हुए। "राकेश ने इस क्षेत्र में भी एकदम नई जमीन तोड़ी। बीज-वपन भले ही लाल ने किया हो, पर रंगमंचीय सामाजिक नाटकों की वास्तविक शुरुआत राकेश से होती है।"[14] एक ही व्यक्ति से चार-चार भूमिकाएं करवाना और वह भी पूरी सक्रियता और प्रभावशीलता के साथ, यह समझ राकेश को समकालीन नाटककारों से अलग करती है। प्रतीकों का प्रयोग भी नाटकों को गति देता है, उनके प्रवाह को बाधित नहीं करता। उनके नाटकों के प्रतीक दृश्य हैं। 'लहरों के राजहंस' में कहीं-कही यह अखरता है, लेकिन अन्य नाटकों में ऐसा नहीं है।

रंगमंच की अनूठी समझ रखने वाले मोहन राकेश प्रसाद की तरह इस बात को मानते थे और सतत प्रयासरत थे कि नाटक के अनुकूल रंगमंच होना चाहिए, न कि रंगमंच के अनुकूल नाटक लिखे जाने चाहिए। यहाँ प्रसाद और राकेश एक धरातल पर खड़े दिखाई देते हैं। दोनों की सोच यह स्पष्ट करती है कि नाटक का रंगमंच नाटक के साथ ही उदित होता है, वह बाहर से आरोपित नहीं होता। उसे बाहर ढूँढ़ना ठीक नहीं है।

राकेश के सामने यथार्थवादी रंगमंच और नाटक भी थे और उन्हें अपनी पूर्ववर्ती पारसी रंगमंच की पर्दो वाले दृश्यबन्ध की जानकारी भी थी। धीरे-धीरे पारसी रंगमंच धूमिल पड़ता गया और यथार्थवादी रंगमंच का चौखटा प्रधान हो गया। सारा दृश्यबन्ध यथार्थ प्रतीत होने वाले स्थान पर ही प्रस्तुत किया जाने लगा। राकेश के नाटकों के दृश्यबन्ध भी एक ही घटना स्थल से सम्बन्धित हैं। सारा कार्य-व्यापार एक ही स्थान पर घटित होता है और दर्शक जीवन्त अनुभव से गुजरता है। कहीं भी यह प्रतीत नहीं होता कि राकेश के नाटकों के दृश्यबन्ध उनके नाटकों की उपज नहीं हैं। ये उनके नाटकों की आन्तरिक आवश्यकता लगते हैं। सच तो यह है कि उनके नाटकों में दृश्यबन्ध एक ही रहता है केवल परिस्थितियों का परिवर्तन दिखाने के लिए कुछ हेर-फेर होता है, ताकि परिवर्तित जीवन-स्थितियों का सांकेतिक प्रकटीकरण हो सके और अर्थवत्ता बनी रहे। डॉ॰ नरनारायण राय ने उचित ही लिखा है कि "रंगमंच के सन्दर्भ में राकेश की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका यह कही जाएगी कि उसका रंगमंच नाटक की जरूरत के मुताबिक आकार लेता है, यद्यपि वह यथार्थवादी है।.उन्होंने नाटक के माध्यम से रंगमंच निर्मित करने का प्रयास किया।"[15] आगे उन्होंने लिखा है कि "राकेश के नाटकों में नाटक का कथ्य और नाटक की आत्मा मूर्त रूप ग्रहण करती है और इसीलिए राकेश का रंगमंच नाटक का मूर्त सत्य

है। राकेश के पहले हिन्दी नाटक और रंगमंच इस अभेद और तादात्म्य को प्राप्त नहीं कर सका था। इसे इस रूप में रचने–ढालने और एक आदर्श के रूप में अनुकरण हेतु प्रस्तुत करने का श्रेय राकेश को जाता है। कथ्य–सत्य की यह दृश्यमूर्तता अपने सर्वांगीण रूप में सबसे पहले राकेश के नाटक में ही व्यक्त हो सकी। नाटक और रंगमंच की अभेदता सिद्ध करने में राकेश की भूमिका निर्णायक कही जाएगी, माथुर और लाल में इस दिशा में प्रयास ही परिलक्षित होता है जबकि राकेश की यह उपलब्धि रही है।"[16] उनके नाटक 'लहरों के राजहंस' में दीपाधार, मत्स्याकार आसन और झूले जैसे रंगोपकरण न केवल वैभव और राजसी सुख को व्यक्त करते हैं, बल्कि उनकी प्रतीकात्मकता नाटकीय क्रिया–व्यापार और नाट्यानुभव को जीवन्तता, प्राणवत्ता और सशक्तता प्रदान करती है। दर्शक नाट्यानुभव के साथ सीधे जुड़ जाता है और वही अनुभव करने लगता है जो नाटककार और नाटक के पात्रों को अभिप्रेत है। यही बात उनके अन्य नाटकों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

प्रसाद के नाटक सामान्य पाठक के लिए नहीं हैं, बल्कि विशिष्ट पाठकवर्ग के लिए हैं जिनके प्रस्तुतीकरण के लिए कुशल अभिनेता, सक्षम और कल्पनाशील नाट्य–निर्देशक, शिक्षित और साहित्यिक रुचिसम्पन्न दर्शक और पर्याप्त धन की आवश्यकता है। इस दृष्टि से राकेश का दृष्टिकोण प्रसाद जी का अनुवर्ती रहा है। उनके नाटक प्रसाद जी के समान साहित्यिक रुचिसम्पन्न बुद्धिजीवी के लिए रचित हैं। सभी स्तर के पाठकों–दर्शकों का ध्यान रखने पर शायद नाटक की उत्कृष्टता प्रभावित होती। इसीलिए उन्होंने इस प्रकार नाट्य–रचना का मार्ग–निर्माण किया कि सभी प्रकार के दर्शक नाटक से जुड़ सकें और उसका आनन्द ले सकें। उनके पहले दोनों नाटक साहित्यिक रुचिसम्पन्न बुद्धिजीवियों–दर्शकों को और तीसरा नाटक साहित्यिक रुचिसम्पन्न बुद्धिजीवियों–दर्शकों के साथ–साथ मध्यवर्गीय दर्शक को भी रंगमंच से जोड़ देता है। यह राकेश की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है, बल्कि यह कहें तो अधिक उचित रहेगा कि स्वातंत्र्योत्तर नाटक की बहुत बड़ी उपलब्धि है। डॉ॰ नरनारायण राय ने लिखा है कि "माथुर के नाटक 'कोणार्क' से पहली बार यह सन्नाटा टूटा था। 'अंधा युग' ने एक और झटका दिया। राकेश ने सन्नाटे के तार–तार बिखेर डाले। हिन्दी रंगमंच पर अगर प्रदर्शनमूलक गतिविधि में बढ़ोत्तरी आयी, दर्शक–वर्ग तैयार हुआ, साहित्यिक नाटक भी प्रदर्शनों में लोकप्रियता की ओर अग्रसर हुए तो उसमें अधिकांश योगदान राकेश का रहा है।"[17]

राकेश के नाटक शिल्प के प्रति उनकी जागरूकता को व्यक्त करते हैं। उन्हें संस्कृत नाट्यशास्त्र की अच्छी समझ थी। यह समझ प्रसाद जी को भी थी। यही कारण है कि उन्होंने संस्कृत नाट्यशास्त्र की उन्हीं तत्वों को ग्रहण किया जो नाटक में आत्मसात हो सकते थे, जो उनके नाटकों की रचना का ढाँचा निर्मित करने के लिए आवश्यक थे। इसीलिए उनके नाटकों में सन्धियों, प्रकृतियों, अवस्थाओं का वैसा प्रभाव नहीं मिलता, जैसा प्रसाद के नाटकों में मिलता है। राकेश ने अंकीय नाटक लिखे, लेकिन दृश्यों को छोड़ दिया। उनके पहले दो नाटकों को यहाँ उदाहरणस्वरूप देखा जा सकता है। अपने तीसरे नाटक 'आधे अधूरे' में राकेश अंक–प्रयोग भी छोड़ देते हैं। उनकी इस योजना का प्रभाव परवर्ती हिन्दी नाटकों पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। उनके नाटकों में खलनायक की अवधारणा भी पहले जैसी नहीं है और 'पैर तले की जमीन' में कोई नायक है ही नहीं।

उनके नाटक प्रसाद के समान शब्द–बोझिल नहीं हैं। वहाँ शब्द क्रियात्मक हैं। उनके नाटकों में चिन्तन भी क्रिया का रूप लेकर साकार होता है। प्रसाद के नाटकों में दृश्य–सूच्य का सन्तुलन गड़बड़ा जाता है और राकेश उससे यथासम्भव बचने में सफल हुए हैं। इसीलिए कहा गया है कि "साहित्यिक भाषा से नाट्य भाषा' और 'जानने की भाषा से जीने की भाषा' तक राकेश द्वारा यह यात्रा हिन्दी नाटक और रंगमंच को एक महत्त्वपूर्ण देन है।"[18] चुस्त, प्रवाहपूर्ण, भावानुवर्ती, प्रसंगानुकूल संवाद–योजना में राकेश माहिर हैं। आधे–अधूरे वाक्यों, अस्फुट संवादों और मौन से राकेश अनकहे और अनलिखे को व्यक्त करने में जितने सफल हुए, उतने उनसे पूर्ववर्ती नाटककार नहीं। उनके परवर्ती नाटककारों ने भी इसका अनुगमन किया। शिल्पगत सजगता और निर्देशकीय दृष्टि से युक्त राकेश के रंगनिर्देशों में कसावट मिलती है जो नाट्यगति को बाँधे रखती है। उनके नाटकों में ध्वनि, संगीत, रंग और प्रकाश के प्रयोग में सूक्ष्म दृष्टि देखने को मिलती है। उनके नाटकों को विशिष्ट बनाने वाले पक्षों की ओर संकेत करते हुए डॉ॰ गिरीश रस्तोगी का कथन है कि उनके नाटकों में "पिरोई गई रंगदृष्टि, रंगमंच की सही विस्तृत परिकल्पना और उसका अनिवार्य अंग और कारण नाटकोचित संवाद और सक्रिय सदृश्य भाषा व अभिनय की सूक्ष्मतम स्थितियों का पूरा ध्यान" उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं। वे आगे लिखती हैं कि "यहाँ स्थूलता नहीं है, सूक्ष्मता ही है। रंगमंच के लिए सारे उपयोगी तथ्य जैसे उनके मस्तिष्क में स्पष्ट रहते हैं–नाटकीय स्थितियों का चयन, पात्रों की बातचीत का उतार–चढ़ाव, गतियाँ, क्रियाएँ, विभिन्न

ध्वनि-प्रभाव, वातावरण की अनुकूल और प्रभावशाली सृष्टि, दर्शक को बाँधनेवाला माहौल, प्रकाश-योजना और विभिन्न पद्धतियों और प्रयोग की सम्भावनाएँ। ये नाटक एक ओर साहित्य-विधाओं में नाटक के भिन्न मौलिक कला-रूप को प्रतिष्ठित करते हैं, दूसरी ओर निर्देशक, अभिनेता, दर्शक के व्यक्तित्व की मौलिकता को भी चुनौती देते हैं, अध्ययन और प्रस्तुतीकरण दोनों दृष्टियों से सतर्क उत्सुक करते हैं। नाटक की मूलभूत विशेषताओं और शक्ति का विस्तार हिन्दी में वर्षों बाद यहाँ मिलता है।"[19]

समग्रत: राकेश ने हिन्दी नाटक और रंगमंच को एक दिशा दी, एक गति दी, एक ऐसा आकाश दिया जिससे परवर्ती नाटककारों का मार्ग प्रशस्त हुआ। नाटकों को दृश्य से और दर्शकों से जोड़ने में उन्होंने खूब सफलता पाई। सुरेन्द्र वर्मा, स्वदेश दीपक, नरेन्द्र मोहन जैसे नाटककारों ने राकेश के इस मार्ग को पूरी सजगता और तत्परता से आत्मसात किया।

सन्दर्भ

1. डॉ॰ ब्रजराज किशोर, हिन्दी नाटक और रंगमंच : समकालीन परिदृश्य, पृ॰ 48
2. डॉ॰ जयदेव तनेजा, मोहन राकेश : रंगशिल्प और प्रदर्शन, पृ॰ 29
3. उद्धृत, डॉ॰ स्वामी प्यारी कौड़ा, नाटककार मोहन राकेश, पृ॰ 133
4. संपादक-संजय दुबे, तहलका, वर्ष 6, अंक 1, 1-15 जनवरी 2014, पृ॰ 10
5. डॉ॰ गिरीश रस्तोगी, मोहन राकेश और उनके नाटक, पृ॰ 85
6. डॉ॰ नरनारायण राय, रंगशिल्पी मोहन राकेश, पृ॰ 23
7. वही, पृ॰ 23
8. वही, पृ॰ 23
9. वही, पृ॰ 23-24
10. डॉ॰ ब्रजराज किशोर, हिन्दी नाटक और रंगमंच : समकालीन परिदृश्य, पृ॰ 33
11. डॉ॰ नरनारायण राय, रंगशिल्पी मोहन राकेश, पृ॰ 55-56
12. उद्धृत, डॉ॰ गिरीश रस्तोगी, मोहन राकेश और उनके नाटक, पृ॰ 62
13. डॉ॰ नरनारायण राय, रंगशिल्पी मोहन राकेश, पृ॰ 24
14. वही, पृ॰ 24-25
15. वही, पृ॰ 27
16. वही, पृ॰ 27-28
17. वही, पृ॰ 29
18. डॉ॰ ब्रजराज किशोर, हिन्दी नाटक और रंगमंच : समकालीन परिदृश्य, पृ॰ 45
19. डॉ॰ गिरीश रस्तोगी, मोहन राकेश और उनके नाटक, पृ॰ 58-59 ।

भूमंडलीकरण, उत्तर-आधुनिकता और रंगमंच

डॉ. सतीश पावडे
असिस्टेंट प्रोफेसर –प्रदर्शनकारी कला नाट्यकला
एवं फिल्म विभाग महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा

आज हिन्दी ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय रंगमंच के सन्दर्भ में उत्तर आधुनिकता की चर्चा बड़े पैमाने पर हो रही है। विगत कुछ वर्षों से राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के भारतीय रंग महोत्सव में जिस प्रकार की प्रस्तुतियों की बाढ–सी आ गई उसके आधार पर उत्तर–आधुनिक भारतीय रंगमंच का परिदृश्य उभर कर आ रहा है। हालाँकि कोई भी निर्देशक, निर्माता अथवा रंगकर्मी जरूरी तौर पर उसका निरूपण उत्तर–आधुनिक प्रस्तुति के रूप में नहीं कर रहा है। किन्तु जो विशेषताएँ अलगपण तथा नाट्य प्रस्तुतियों का स्वरूप प्रदर्शित किया जा रहा है, वह उत्तर–आधुनिकता की परिकल्पना का प्रतिबिम्ब उसमें साफ तौर पर दिखाई दे रहा है।

सबसे पहली विशेषतः भाषाई विखंडन के रूप में दिखाई देती है। अगर हम भारंगम 2012 की बात करें तो सत्तर फिसदी नाटक या तो अभाषिक हैं या बहुभाषिक हैं। इन सारी प्रस्तुतियों में लेखक नदारद है। निर्देशकों की प्रभुता स्पष्ट रूप में दिखाई देती है। बहुतांश नाट्यकृतियाँ इम्प्रोव्हाईज्ड है अथवा कार्यशालाओं की सामूहिक निर्मितीयाँ हैं। आलेख के प्रति जो नजरिया है वह लगभग आलेख एवं पाठ को खारीज करने वाला है जो उत्तर आधुनिक रंगमंच की अभिन्न, प्रभावोत्पादक विशेषतः है। भाषा का विखंडन बहुस्तरीय है। भाषा को विखंडीत कर दृश्यात्मक आलेख (Visual Text) के प्रति नए रंगकर्मियों का रुझान चर्चा का विषय है। साथ विन्यासन (Design) की परिकल्पना लेखन, निर्माण के बजाए सोच नजरिया, विचार, अनुभव (Thought, Approach, Experience) आदि का बडे पैमाने पर विन्यास किया गया है। इसे हम उत्तर आधुनिक नजरिये का विन्यासन (Design of Postmodern thought, Approach and Experience) कह सकते हैं। इसके अलावा कल तक केवल नाटक के विषयवस्तु बने परिधी के रूप में इन नाटकों में उपस्थित दिखाई दे रहे है। चाहे वह सर्कस के कलाकार हो, वारांगणए हो अथवा बौने लोग हो। वे अपना विखंडीत यथार्थ खुद ही प्रस्तुत कर रहे है।

यहाँ बहस का मुद्दा यह है कि जो नाट्यप्रस्तुतियाँ अभाषिक हैं, अथवा ध्वनि की भाषा, प्रकाश की भाषा, दृश्यविन्यास की भाषा में प्रस्तुत हो रही है। फिर उन्हें हिन्दी रंगमंच की प्रस्तुतियाँ क्यों कही जाए। इस पर रंगकर्मी तर्क देते है कि यह नाट्यप्रस्तुतियाँ भले ही हिन्दी भाषा में नहीं अपितु वे सारे रंगकर्मी, उनकी संस्थाएँ, निर्देशक हिन्दी भाषिक है। भारती की राष्ट्रभाषा हिन्दी उनकी मातृभाषा भी है। भारंगम भी भारतीयता बनाम हिन्दी अस्मिता को प्राथमिकता देती है। इनके अधिकतर प्रयोग भी भाषिक प्रदेश में होते हैं। बहरहाल हिन्दी नाट्यालेख, नाटककार के समक्ष ऐसी प्रस्तुतियाँ चुनौती के रूप में उभरकर आ रही है। दूसरी और निर्देशकों की अथवा विन्यासकारों की सत्ता अधिक प्रभावी बन रही है। लेखक–निर्देशक के सम्बन्धों पर, लेखक और रंगमंच के सम्बन्धों पर यह परिदृश्य कई सवाल खड़े करने वाला है। जो उत्तर आधुनिकता के रंगमंचीय सिद्धान्तो की एक विशेषतः बताई जाती है।

इतिहास की मृत्यू, महानायक, महाख्यानों की मृत्यू, पात्र की मष्त्यू या खंडन, ध्वनि की आलेख के रूप में प्रस्तुति, दृश्यों का कोलाज, नैरेटीव्ह फार्म का निषेध, एकालाप अथवा समूह की दृश्य रूप में स्थापना, शिल्पगत, विविधता, आलेख–परफार्मेन्स का नया नजरिया, प्रयोगधर्म पर बल, किन्तु उसमें भी विखंडन विसंरचना का आग्रह, दृश्य विन्यास में चित्र, कटआउट्स, शिल्प, इन्स्टॉलेशन, मल्टिमिडीया, त्रिमितिक दृष्टिकोण का स्वीकार, नाट्यतत्त्वों का और नाट्यतत्त्व में बिखराव, भावावस्था का भाषावस्था में ही दृश्यांकन, रोजमर्रा के जीवन में उपर्युक्त विविध उपकरण, भाण्ड, उपादन, रंगों का अवस्थानुकूल प्रयोग,

समय सीमा का अ–निर्धारण, देहभाषा, मूकभाषा, वातावरण–पर्यावरण की भाषा, रंगतन्त्र की विशेषताएँ अथवा परिचयात्मक तत्त्व इन नाट्यप्रस्तुतियों में परिलक्षित हुए, जिन्हें उत्तर–आधुनिकतावादी रंगचिन्तक उत्तर आधुनिक रंगमंच की विशेषताएँ अथवा परिचयात्मक तत्त्व (Identical Elements) के रूप में निरूपित करते है। यहा खास बात यह है कि ये सारे तत्त्व, सारी इकाईयाँ नाट्यमंचन, नाट्यप्रयोग, नाट्यप्रस्तुति के रूप में निरूपित किए गए है। यहाँ नाट्यालेख (Script or Text) का विचार गौण माना गया है। केवल प्रदर्शन (Performance) ही उत्तर–आधुनिक रंगमंच का नजरिया है, साधन है और साध्य भी। परफार्मेन्स ही विषय है, परफार्मेन्स ही आशय है, परफार्मेन्स ही दृष्टिकोण है, परफार्मेन्स ही कथ्य है, परफार्मेन्स ही तथ्य है।

यह आज की रंगमंचीय भाषा (Theatrical Language) है। भूमंडलीकरण के प्रक्रिया से निर्मित वर्चस्व, प्रभुता के मूल्य (Hegemonic Values) प्रणाली को तोड़ने के लिए यह रंगमंच प्रति–प्रभुता (Computer Hegemony) की व्यवस्था को जन्म दे रहा है। क्या ग्राहक बने समाज को, दर्शकों का यह रंगमंच भ्रम, तृष्णा, भोगवाद के चक्रव्यूह से बाहर निकालने में कारगर सिद्ध होगा? क्योंकि न इसमें ॲब्सर्ड थिएटर, न एपिक थिएटर, न ऑप्रेस्ड थिएटर आदि की मूलावस्था दिखाई देती है। न प्रतिरोध के स्वरों की एकात्मता (Unity of Resistance)) दिखाई देती है। (इसमें कुछ अपवाद जरूर है, जिसमें मैं विशेष रूप से 'मिराज' नाटक उल्लेख करना चाहूँगा। जिसने कालिदास के ऋतुसंहार का परिप्रेक्ष्य, मायना, प्रतिमा, जड़ से ही बदल दी है। ऋतुयों के विखंडन की यह एक सटीक प्रस्तुति है।

इस परिकल्पना का जन्म एकाएक नहीं हआ। विगत कई वर्षो से यह प्रक्रिया चलती रही है। बादल सरकार का 'भोमा', रतन थिएम का 'प्रोलॉग' विजय तेन्दुलकर का सफर, नियतीच्या बैलाला, उदय प्रकाश का मोहनदास, मकरन्द साठे का 'ते पूढे गेले', श्याम मनोहर का दर्शन, महेश एल.कुचवार का युगात, नदिरा बब्बर का फुट नोट्स ऑफ लाईफ, भगवान हिरे का एक बार फिर गोदो, श्रीकान्त सराफ का नत्था खड़ा बाजार में आदि भारतीय नाटकों में उत्तर–आधुनिकता के आलेखात्मक, प्रदर्शनात्मक तत्त्व देखे जा सकते है। भूमंडलीकरण के प्रति कथ्यात्मक, तथ्यात्मक प्रतिरोध हम इन नाटकों में देख सकते हैं। इन नाटकों में नायक, आदर्शों का विखंडन साफ तौर पर देखा जा सकता है। एक बार फिर गोदो में जगन्नायक गोदो अथवा गॉड की हत्या कर दी जाती है। नाट्यालेख के स्तर पर भी उत्तर–आधुनिकता के कथ्य तथा तथ्य स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। कई नाटककार इस विघटन को आलेखित कर रहे हैं। बहुभाषा, पिडगीन (हायब्रीड) भाषा के स्तर पर वह परिलक्षित हो रहा है। परन्तु गत दशक में अभाषिक आलेख, या पाठ्य को नकार ने की प्रवृत्तियाँ मंचन के आजादी के नाम पर बढ़ी है। जो हमारी चिन्ता का चुनौतियाँ का विषय बनता जा रहा है। क्या यह नया रंगमंच हमारे सौन्दर्यबोध को भी बदल सकता है। डॉ. रवि श्रीवास्तव इस प्रश्न का उत्तर सकरात्मक रूप में देते हैं। ''उत्तर–आधुनिक समाज एक सम्पूर्ण मनोदशा, जीवन–शैली, एवं सांस्कृतिक व्यवहार भी है। जिसने हमारी भाषा, साहित्य कला और संस्कृतिबोध एवं सर्वोपरि रूप से हमारी सौन्दर्याभिरुचि अथवा सौन्दर्यबोध तक को बदलने में सफलता हासिल की है।'' (XV) (उत्तर–आधुनिक विभ्रम और यथार्थ) किन्तु यह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। हमारा सौन्दर्यबोध अब भी रस, भाव, विरेचन जैसे पारम्परिक सिद्धान्तों से जुड़ा है। 'विखंडन' का सौन्दर्यबोध हमारी मानसिकता हमारा दर्शन, हमारे संस्कार शायद ही व्यापक और सार्वत्रिक स्तर पर स्वीकारा जा सकता है। शायद ही आम दर्शक इस रंगमंच से अपना तादात्म्य स्थापित कर सके। अतियथार्थवाद ही रंगमंच में स्थापित नहीं हो पाया तब यह 'हायपर' यथार्थवाद क्या अपनी जड़ें जमा पाएगा। बरबस यह प्रश्न मेरे जहन में भी पैदा हुआ है।

चुनौतियाँ

औद्योगिकरण की प्रक्रिया में आधुनिकता ने जन्म लिया। वैसे ही भूमंडलीकरण ने उत्तर–आधुनिकता के विचार को जन्म दिया। इसलिए उत्तर आधुनिकता का विचार हमें भूमंडलीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, उपभोगवाद, संचार क्रान्ति आदि के परिप्रेक्ष्य में करना अनिवार्य होता है। इन तत्त्वों ने आचार, विचार, जीवनशैली ही नहीं बदली बल्कि उसे नियन्त्रित कर रखा है हमारा अस्तित्त्व, हमारा परिचय अब केवल एक ग्राहक उपभोक्ता तक सिमटकर रहा है। हमारी क्रयशक्ति हमें स्थापित करेगी या विस्थापित तात्पर्य एक होड़ सी ली है, क्षमता हो अथवा ना हो, ग्राहक बनने की अपरिमित तष्णायं लिए यह ग्राहक के गर्त

में खोता जा रहा है। यह स्थिति चिन्ताजनक है। मानवीय सम्बन्ध, मानवीय मुल्य, प्रकृति से जुडे प्रश्न, आतंक, आत्मकेन्द्रों वृत्तियों का जन्म, वंटरमेंट की होड़, तात्कालिकता के तत्त्व, संचार, सम्प्रेषण के बदलते मायने, तरीके, भोगवादी वृत्तियों का उफान, लैंगिकता के प्रश्न, आज उत्तर आधुनिकता के परिचायक बन गए हैं।

इसी परिप्रेक्ष्य में आज के हिन्दी रंगमंच की वैचारिक आलोचना अत्यावश्यक बन जाती है। क्या यह रंगमंच उत्तर–आधुनिकता से प्रभावित हो रहा है। क्या विखंडना का प्रतिबिम्ब हिन्दी रंगमंच में देखा जा सकता है। क्या यह प्रतिरोध का रंगमंच है या फिर प्रतिक्रिया का रंगमंच है। या शनैः–शनैः बनती चली जा रही फैशन है। यह थिएटर किसी आस्था, प्रतिबद्धता को मानता भी है या केवल परफार्मेन्स हेतु रंगतन्त्र के केवल नए आयामों का आविष्करण किया जा रहा है। सृजनशील प्रेरणा (Creative Instruct) का कोई तत्त्व इस रंगमंच में है या केवल तान्त्रिक प्रयोगधर्मिता (Technical Experimentalism) की यह जरूरत है। इस परिप्रेक्ष्य में हिन्दी रंगमंच का क्या भविष्य होगा? क्या नाटककार को प्रस्तुतिकरण के सीमा से बाहर कर दिया जाएगा? क्या यह रंगमंच मुख्य प्रवाह का रंगमंच बनेगा? या कास्मोपालीटन, मेटोपालीटन शहर की एक 'फास्ट फूड' जैसी जरूरत बन जाएगी। इसे प्रयोगधर्मिता कहने के पश्चात क्या अन्य प्रयोगधर्मिता के द्वार बन्द हो जाएँगे। ऐसे कई सवाल हमारे जहन में खड़े हो रहे हैं। भारंगम तथा उसके जैसे शीर्षथ नाट्य समारोह, सरकारी प्रोजेक्ट, फेलोशिप, मल्टीनेशनल कम्पनियों की स्पान्सरशिप, यूरोपीय देशों से प्राप्त फंडिंग, विविध नाट्य स्पर्धाओं में कुछ अलग, हट के प्रस्तुति के रूप में बाँटे जा रहे पुरस्कार इस थिएटर का महत्त्व निश्चित बढ़ा रहे हैं। निर्देशक विन्यासक, संस्थाएँ प्रतिष्ठित हो रही हैं। किन्तु क्या मौलिकता, प्रतिबद्धता, गम्भीरता, प्रभावोत्पादकता, संस्कार क्षमता, साहित्यिक मूल्य, रंगमंचीय मूल्य आदि के सन्दर्भ में गम्भीरतापूर्वक सोचा जाएगा? हिन्दी ही क्यों? सभी भाषायी रंगमंच के समक्ष यह चुनौतियाँ खड़ी हो रही है। भारतीय मानसिकता के परिप्रेक्ष्य में इस उत्तर–आधुनिक रंगमंच की समीक्षा होना जरूरी है। नकारात्मक ही क्यों? एक 'फेज' एक प्रसंग, एक समय, एक कालखंड, एक स्थिति के रूप में हम सकारात्मक दृष्टि से भी ऐसे रंगमंच को देख सकते हैं। समय, परिवेश, दर्शक, उसकी प्रासंगिकता, समकालीनता, तय कर सकते है। क्यों न एक 'प्रयोग' (Experiments) के रूप में देखें? बाकी समय के साथ उसका भविष्य तो तय होगा ही।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी महिला कथाकारों की कहानियाँ और स्त्री अस्मितामूलक विमर्श

(विशेष संदर्भः मृदुला गर्ग और नासिरा शर्मा)

डॉ. सुषमा सहरावत
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

स्त्री अस्मितामूलक विमर्श वस्तुतः स्त्रियों को हर प्रकार के शोषण, रूढ़िगत मान्यताओं और परम्पराओं के नाम पर उनके साथ किए जाने वाले अन्याय के विरुद्ध जागरूक कर उन्हें उनके स्वतंत्र अस्तित्व की पहचान कराना है। यहाँ स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि इसका तात्पर्य पुरुष वर्चस्व के खिलाफ स्त्री वर्चस्व को स्थापित करने के लिए चलाया जाने वाला कोई अभियान नहीं है अपितु समाज में स्त्री को समान दृष्टिकोण व समान व्यवहार की अधिकारिणी समझे जाने की दिशा में किया जाने वाला प्रयास है। स्त्री जाति आज भी अपनी अस्मिता स्थापित करने के लिए संघर्षरत है। हाँ, यह जरूर है कि इक्कीसवीं शती की स्त्रियाँ अब 'अबला' नहीं हैं। आज वह अनेक क्षेत्रों में अपनी सफलता के परचम लहरा रही हैं। सरकार ने भी स्त्री-सशक्तीकरण की दिशा में काफी सराहनीय प्रयास किए हैं परंतु यह भी कटु सत्य है कि आज भी घरेलू और बाहरी स्तर पर स्त्रियों को अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ रहा है। पुरुष प्रधानता की जड़े आज भी अधिकांश पुरुषों की मानसिकता में गहरे पैठी हैं। हर क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ने के बावजूद उन्हें अपनी योग्यता सिद्ध करने के लिए बहुत सी मुश्किलों का सामना करना पड़ रहा है। स्त्री अस्मितामूलक विमर्श का लक्ष्य स्त्री को उसके अधिकारों के प्रति सचेत करते हुए उसे उसके अस्तित्व की पहचान कराना है। इस दिशा में महिला कथाकारों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है जिन्होंने स्त्री अस्मितामूलक विमर्श को अपनी कथाओं का आधार बनाकर स्त्री को उसके अस्तित्व से रू-ब-रू कराया। ऐसा भी नहीं है कि स्त्री अस्मिता से सम्बद्ध कहानियाँ महिला कथाकारों की ही देन हैं। पुरुष कहानीकारों ने भी अपनी कहानियों में ऐसे चित्रण किए हैं किंतु महिला कथाकारों की कहानियों में स्त्री अस्मिता ने एक नये तेवर के साथ अभिव्यक्ति पाई है। स्त्री-मन की गहराइयों में जाकर उसकी विविध अनछुई परतों को अनवरत कर जितना प्रामाणिक और तटस्थ अंकन इन महिला कथाकारों ने किया है उतना पहले कभी नहीं हुआ था। अनुभवजन्य प्रामाणिकता से युक्त ये कहानियाँ जब पाठक के समक्ष आती हैं तब स्त्री के बहुआयामी व्यक्तित्व के विविध सरोकारों से रूबरू हो वह हतप्रभ हो जाता है। नारी जीवन के अनजाने और अनचीन्हे पहलुओं का बेबाकी से चित्रण करती ये कहानियाँ स्त्री मन के गहन सम्वेदनात्मक धरातल से जुड़ी हुई हैं। यहाँ यह बात भी ध्यातव्य है कि इन सभी महिला कथाकारों में स्त्री अस्मिता का स्वर भिन्न-भिन्न रूपों में देखा जा सकता है। कृष्णा सोबती, ऊषा प्रियम्वदा, मन्नू भण्डारी, ममता कालिया, चित्रा मुद्गल जैसी स्वातंत्र्योत्तर प्रारम्भिक लेखिकाओं में नारी चेतना का जो रूप दिखलाई पड़ा, उससे अधिक प्रखर रूप सत्तर से नब्बे के दशक में सक्रिय लेखिकाओं – मृदुला गर्ग, क्षमा शर्मा, नासिरा शर्मा आदि में लक्षित होता है तथा इसके उपरान्त से वर्तमान कथा-पीढ़ी की लेखिकाओं- मैत्रेयी पुष्पा, गीतांजलि श्री, अलका सरावगी आदि में स्त्री अस्मिता का अत्यंत प्रखर रूप परिलक्षित होता है।

मृदुला गर्ग जी स्त्री चेतना की संवाहक लेखिका रही हैं, चाहे उनके द्वारा लिखित उपन्यास हों, कहानी या फिर नाटक, प्रत्येक विधा में उन्होंने नारी चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति की है। उनकी लिखी समस्त कहानियों का संग्रह 'संगति-विसंगति' (भाग-1 तथा भाग-2) नाम से सन् 2004 में प्रकाशित हुआ है। मृदुला गर्ग की कहानियाँ स्त्री जीवन के संकचित दायरों का अतिक्रमण करती हैं। उनकी कहानियों में जीवन में घटित होने वाली बड़ी-बड़ी घटनाएं ही इसका साक्ष्य नहीं बनती बल्कि जीवन की छोटी-छोटी घटनाएं एवं मामूली से लगने वाले क्रिया-कलाप तथा स्थितियां भी संपूर्ण जीवन को आंदोलित करने वाले महत्वपूर्ण घटक बनकर कलात्मक अभिव्यक्ति पाते हैं। 'हरी बिंदी' उनकी ऐसी ही कहानी है। इसकी नायिका रोजमर्रा के रुटीन जीवन से उकता कर अपना जीवन स्वयं की इच्छा से जीने की चाह रखती है। एक अजनबी से मिलकर हुआ अपने अस्तित्व

की पहचान का सार्थक बोध उसे उन्मुक्त और स्वच्छंद अनुभूति से भर देता है। 'वह मैं ही थी' कहानी में मृदुला गर्ग जी ने नायिका उमा के माध्यम से स्त्री जीवन के अस्थायित्व की पीड़ा को वाणी दी है क्योंकि 'भारत जैसे भीषण असमानताओं वाले देश में वर्ग और स्थान की भूमिका एक जैसी है। सिर्फ औरत ऐसी चीज है जिसे कहीं से उखाड़कर कहीं फेंका जा सकता है, इस धारणा के साथ कि वह जड़े जमा ही लेगी।' लेखिका उमा और उस 'औरत' की त्रासद कथा द्वारा स्त्री को स्वयं को जड़विहीन या परजीवी की भाँति अन्योन्याश्रित न रहकर सुदृढ़ व्यक्तित्व की स्वामिनी बनने के लिए प्रेरित करना चाहती है। स्त्री-मुक्ति की कामना इस कहानी के केंद्र में है। कहानी 'अवकाश' दाम्पत्य के उस पारम्परिक ढर्रे का अस्वीकार है जो स्त्री को बलात् उसी बंधन में बंधे रहने को विवश करता है। इस कहानी की नायिका शादीशुदा होते हुए भी बिना किसी पाप-बोध के दाम्पत्येत्तर सम्बंध को जीती है। सामाजिक दृष्टि से असंगत यह सम्बंध उसे अनुचित नहीं लगता। दाम्पत्य और प्रेम दोनों के बीच झूलती हुई वह न तो अपने दाम्पत्य का परित्याग करती है और न ही अपने प्रेम का। सामाजिक नियमों को धता बता अपनी इच्छा से अपना जीवन जीने का साहस रखती है।

'साठ साल की औरत' कहानी में मृदुला जी ने इक्कीस वर्ष उपरांत अपने प्रेमी से मिलकर फिर से उसी उत्कट इच्छा को जीने वाली नायिका के माध्यम से यह बताया है कि प्रेम करने और पाने की कोई उम्र नहीं होती। यह कहानी प्रत्येक स्त्री को अपना जीवन अपने ढंग से जीने देने के अधिकार का पक्ष रखती है और समाज की उस दकियानूसी सोच को बदलने की वकालत करती है जिसमें वृद्धावस्था आ जाने पर स्त्री को प्रेम करने का अधिकार नहीं दिया जाता। इसी तरह मृदुला जी की कहानी 'मेरा' स्त्री के स्वयं की कोख पर अधिकार के प्रश्न को उठाती है। संतान को इस दुनिया में लाने या न लाने का फैसला पति-पत्नी दोनों का साझा होता है किंतु कहानी की नायिका मीता के पति की वर्चस्ववादी मनोवृति इसका अधिकार केवल अपने पास रखती है। पर अंततः मीता कोख पर स्त्री के हक के प्रति जागरूक होकर गर्भपात कराने से इंकार कर देती है और अपने पति की इच्छा के विरुद्ध जाकर अपने बच्चे को संसार में लाने का साहसी निर्णय कर 'स्त्री का कोख पर अधिकार' की स्थापना करती है।

वस्तुतः मृदुला जी की कहानियों के नारी-चरित्र शोषण के विरुद्ध संघर्ष करते हुए अपनी अस्मिता से रूबरू होकर सफलता प्राप्त करते हैं। उनकी कहानियों में पुरुष सत्ता के साथ कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है और न ही पुरुषों को कमतर आंकने का प्रयत्न है बल्कि इनमें तो स्त्री को भी इंसान मानने एवं समझने की बात कही गई है। स्त्री के प्रति देहवादी दृष्टिकोण का इनमें विरोध हुआ है। यहां पुरुष से होड़ करने वाली बात नहीं है बल्कि अपने जीवन को स्वतंत्रतापूर्वक जीने का सामर्थ्य है। मृदुला जी के नारी-पात्रों ने अपने ऊपर हो रहे शोषण और अत्याचारों का विरोध कर अपने अदम्य साहस का तो परिचय दिया ही है, साथ ही यह भी दिखाया है कि वह हाड़-मांस-रक्त की बनी देह मात्र न होकर एक चेतनायुक्त प्राणी भी हैं और इसी रूप में उनके साथ व्यवहार होना चाहिए। स्त्री स्वातंत्र्य के प्रश्न को उठाती उनकी कहानियाँ समाज में स्त्री की महत्वपूर्ण भूमिका को उजागर करती हैं।

हिन्दी कथा साहित्य में अपनी विशिष्ट पहचान बनाने वाली नासिरा शर्मा जी ने व्यापक धरातल पर अपनी कहानियों के माध्यम से स्त्री स्वर को वाणी प्रदान की है। उनके द्वारा लिखित शामी कागज, पत्थर गली, संगसार, इब्ने मरियम, सबीना के चालीस चोर तथा दस प्रतिनिधि कहानियाँ नामक कहानी संग्रह स्त्री विमर्श के विविध आयामों को सफलतापूर्वक हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। चूँकि नासिरा जी स्वयं मुस्लिम समाज में पली-बढी हैं इसलिए मुस्लिम जीवन और संस्कृति उनकी कहानियों में पूर्णरूपेण उभर कर सामने आयी है। उन्होंने स्वयं कहा है कि 'मुस्लिम समाज सिर्फ 'ग़ज़ल' नहीं है बल्कि एक ऐसा 'मर्सिया 'है जो वह अपनी रूढ़िवादिता की कब्र के सिरहाने पढ़ता है।' पर उसके साज और आवाज को कितने लोग सुन पाते हैं और उसका सही दर्द समझते हैं? ये कहानियाँ उस समाज और परिवेश की हैं जो वास्तव में पत्थर गली है, जिसे तोड़ना आसान नहीं। मगर एक छटपटाहट है निकास-द्वार ढूँढने की और ये कहानियाँ उसी की तस्वीर पेश करती हैं।

असल में, चाहे मुस्लिम समाज की स्त्रियाँ हों या फिर हिन्दू, ईरान, ईराक, पाकिस्तान या अफगानिस्तान की स्त्रियाँ, नासिरा जी ने सभी धर्मो, जातियों और समुदायों की स्त्रियों की भावनाओं को अपनी कहानियों के माध्यम से वाणी प्रदान की है। खास बात यह है कि नासिरा जी की कहानियाँ स्त्री विमर्श के संदर्भ में न केवल स्त्री जीवन के विविध स्वरूपों का चित्रण करती हैं बल्कि साथ ही नारी स्वतंत्रता की एक अलग पहचान भी समाज में स्थापित करती हैं। कहानी 'बावली' पूर्णतः एक स्त्री चेतना प्रधान कहानी है। लेखिका ने 'बावली' के प्रतीक

द्वारा स्त्री के वजूद की परख की है।

लेखिका ने सलमा के माध्यम से स्त्री जीवन के एक ऐसे पहलू पर प्रकाश डाला है जहाँ स्त्री का वजूद उसके माँ बनने के अतिरिक्त और कुछ नहीं लगाया जाता। सर्वगुण सम्पन्न होते हुए भी यदि स्त्री बंध्या है तो यह उसके जीवन का अभिशाप बन जाता है। यहाँ यह बात प्रखरता से उभरकर सामने आती है कि यदि स्त्री संतान सुख दे पाने में असमर्थ है तो पुरुष दूसरा विवाह करने में तनिक संकोच नहीं करता किंतु यदि पुरुष संतानोत्पत्ति नहीं कर सकता तो क्या स्त्री भी ऐसा ही करती है? उत्तर हम सब जानते हैं। वैसे तो हम इक्कीसवीं सदी में पहुँच गए हैं लेकिन आज भी कभी समाज, कभी खानदान तो कभी वंश-परम्परा की दुहाई देकर औरत को ही बलि का बकरा बनाया जाता है, औरत से ही ये अपेक्षा की जाती है कि वह दूसरों की खुशी का ख्याल रखेगी किंतु उसकी ख्वाहिशें, उसके सपने, उसके अरमान क्या कुछ भी मायने नहीं रखते? कहानी की विशेषता यह है कि इसमें लेखिका ने संतानहीन स्त्री की पीड़ा को केवल वाणी ही प्रदान नहीं की है बल्कि स्त्री चेतना को भी उभारा है। सलमा एक कमजोर स्त्री के भावुक क्षणों से उबरकर एक सबल एवं मजबूत व्यक्तित्व की स्वामिनी के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हुई है। 'चौथे रास्ते' पर चलने का निर्णय करना वाकई एक सबल व्यक्तित्व का परिचायक है। सलमा के व्यक्तित्व की दृढ़ता तब और प्रखरता से सामने आती है जब कहानी के 'क्लाइमेक्स' में उसके गर्भवती होने की बात पता चलती है किंतु तब भी सलमा का निर्णय अटल ही रहता है। गर्भवती होने के उपरांत वह चाहती तो अधिकारपूर्वक उसी घर में रह सकती थी किंतु उसे बँटवारे का रिश्ता मंजूर न था। अब वह अपनी जिंदगी अपनी तरह से जीने का निर्णय ले चुकी थी। सलमा द्वारा चौथे रास्ते को चुनने का निर्णय उसके स्वावलम्बी स्वभाव, आत्मसम्मान एवं जाग्रत व्यक्तित्व का परिचायक है। सलमा एक आधुनिक एवं चेतनायुक्त स्त्री के रूप में सामने आई है।

'दिलआरा' कहानी में नासिरा जी ने एक ओर जहाँ मौलाना अकरम जैसे मौलवियों के स्त्री विरोधी फतवों की खिलाफत की है वहीं साजदा बेगम और दिलआरा के माध्यम से स्त्री-स्वातंत्र्य की पैरवी कर उनका पक्ष रखा है। इसके अतिरिक्त इस कहानी में लेखिका ने विधवा जीवन की समस्याओं पर विचार करते हुए उन्हें भी इंसान समझे जाने की बात कही है। कहानी में साजदा बेगम एक लाचार विधवा की अपेक्षा सुदृढ़ व्यक्तित्व वाली स्त्री के रूप में उभरी है। यही इस कहानी की सफलता भी है जो स्त्री को टूटने की बजाय जुड़ने का संदेश देती है और बताती है कि आज स्त्री इतनी कमजोर नहीं है कि व्यंग्य-बाणों से आहत होकर अपनी जिजीविषा का परित्याग कर दे। लेखिका ने दिलआरा नामक स्त्री-पात्र की सृष्टि कर उन तमाम मुस्लिम लड़कियों को वाणी प्रदान की है जो अपने हकों से अनजान रहकर अपने अरमान दिल में ही दबाए रखती हैं किंतु जब उन्हें शरीयत और रवायतों की मालूमात हो जाती है तो अपने ढंग से अपनी जिंदगी जीने के लिए विद्रोह पर उतर आती हैं। नासिरा जी ने अपनी प्रसिद्ध कहानी 'पत्थर गली' में मुस्लिम समाज के रूढ़िवादी जड़ परिवेश का चित्रण कर दिखाया है कि मुस्लिम लड़कियाँ अपनी स्वतंत्र अस्मिता के लिए किस तरह भीतर-ही-भीतर घुटती रहती हैं तथा उस दमघोंटू परिवेश से बाहर निकलने के लिए कसमसाती रहती हैं। लेखिका ने फरीदा जैसे सशक्त नारी-चरित्र की सृष्टि की है जो मुस्लिम समाज की सड़ी-गली मान्यताओं को स्वीकार करने की अपेक्षा अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए संघर्ष करती है। फरीदा के अतिरिक्त नजमा, नाहीद, खुदैजा, शकीला, सालेहा जैसे स्त्री-पात्रों द्वारा लेखिका ने बंधनमुक्त होने की स्त्री-चाह को अभिव्यक्ति दी है।

कुल मिलाकर यह कहानी मुस्लिम परिवेश में व्याप्त रूढ़ियों, विसंगतियों और परम्पराओं के चलते फरीदा, सलमा, जुलेखा जैसी उन लड़कियों के प्रति हमारी संवेदनाओं को जगाती है जो कट्टरपंथी मुस्लिम समाज की परम्परागत मान्यताओं को छोड़कर स्वतंत्र मार्ग चुनने का साहस करती हैं। 'चार बहनें शीशमहल की' कहानी में लेखिका ने चार लड़कियों की कथा प्रस्तुत करते हुए जहाँ एक ओर पुत्र-लालसा पर प्रहार किया है और दिखाया है कि लड़कियाँ किसी भी मायने में लड़कों से कम नहीं होती हैं वहाँ चारों बहनों के साहस व पराक्रम का भी चित्रण किया है। करीमन अपने बेटे शरीफ और बहू रेशमा के घर चार-चार लड़कियाँ पैदा होने पर मायूस हो जाती है किंतु आगे चलकर चारों बेटियाँ न सिर्फ अपने हुनर से अपने दादा व पिता की मशहूर चूड़ियों की दुकान 'सुहाग स्टोर' को संभालती हैं बल्कि पढ़ती-लिखती भी हैं और अपने अब्बू का बेटा बनकर उनकी दुकान को चार चाँद भी लगा देती हैं। यद्यपि कहानी के अंत में सांप्रदायिक दंगों के चलते चारों बहने मौत की नींद सुला दी जाती हैं परंतु संपूर्ण कहानी में लेखिका ने चारों बहनों की बहादुरी, हिम्मत और आत्मविश्वास का बखूबी चित्रण किया है और दिखाया है कि बेटियाँ बेटों से कम नहीं होती हैं। नासिरा जी की कहानियों में स्त्री के समस्त

मनोभाव शब्दों का जामा पहन साकार हो उठे हैं। स्त्री अस्मितामूलक विमर्श उनकी कहानियों के केंद्र में है।

वस्तुत: स्त्री को बेचारी, असहाय और कोमलांगी के कलेवर से बाहर लाकर एक सुदृढ़ व्यक्तित्व की स्वामिनी तथा अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक बनाने वाली इन महिला कथाकारों का साहित्य एवं समाज में योगदान अविस्मरणीय रहेगा।

संदर्भ

1. समकालीन कहानी: दिशा और दृष्टि, संपादक: डॉ. धनंजय, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1970.
2. मृदुला गर्ग का कथा साहित्य: डॉ. तारा अग्रवाल, विद्या प्रकाशन, कानपुर, द्वितीय संस्करण, 2011.
3. दस प्रतिनिधि कहानियाँ, नासिरा शर्मा
4. स्त्री केंद्रित 65 कहानियाँ, डॉ. बलदेव वंशी

भक्तिकालीन काव्य में भारतीय लोकजीवन तथा लोकसंस्कृति

डॉ. अर्चना कांतीलाल आढाव
जनता कला व विज्ञान महाविद्यालय,
अहमदनगर (महाराष्ट्र)

भक्तिकाल में भक्ति की धारा अपने पुर्ण रूप में प्रवाहित हुई थी। इस कारण इस काल के प्रतिनिधी कवि भक्ति के रंग मे तो पुरी तरह से रंगे थे लेकिण इससे साथ साथ वह समाज से भी पुर्ण रूप से जुडे हुए थे। अपने युगीन परिवेश का उन्होंने बारिकी से अवलोकन किया था और अपने काव्य में तत्कालीन लोकजीवन तथा लोकसंस्कृति का उद्घाटन भी किया था। समाज मे व्याप्त लोककथाएँ रीति-रिवाज, परंपरा, लोकसंस्कार, पर्व-त्योहार, अंधआस्थाएँ तथा लोकाचार आदि का वर्णन तथा समाज की विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण इनके साहित्य में पाया जाता है।

भक्तिकाल के प्रमुख कवि कबीर, जायसी सूर तथा तुलसीजी के काव्य मे हमे तत्कालीन समाज तथा संस्कृति अपने पुर्ण रूप में दिखाई देती है। किसी भी रचनाकार की समाजदृष्टि उसकी वैचारिक प्रतिबद्धता और समाजिक पक्षघरता से ही बनती है अतः भक्तिकालीन कवि कबीरदासजी के काव्य में तत्कालीन समाज मे व्याप्त ऊँच-नीच का भेद ब्राम्हण, पाखंड, अंध विश्वास, धार्मिक-आडंबर, भ्रष्टाचार, ब्राम्हण वृत्ती आदि का वर्णन प्राप्त होता है। जायसी प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा के प्रमुख कवि माने जाते है। उनके काव्य मे प्रमुखतः से हिंदू-मुस्लिम एकता का स्वर सुनाई देता है। एक मुसलमान होने के बावजूद उन्होंने अपने काव्य में हिंदु समाज तथा संस्कृति का बड़ा ही अभ्यासपुर्ण सुंदर वर्णन किया है। सुरदासजी कृष्ण के परमभक्त है अतः उनके काव्य में ब्रज की लोकसंस्कृति को चित्रांकित किया गया है। तथा तुलसीदासजी ने अपने महाकाव्य 'रामचरितमानस' द्वारा भारतीय लोकसंस्कृति के आचार-विचारों का प्रकटीकरण किया है। इन कवियों का समस्त काव्य एक प्रकार से भारतीय लोकजीवन तथा लोकसंस्कृति की झलक ही प्रस्तुत करता है।

संतकाव्य

संतकाव्य के प्रमुख कवि महात्मा कबीर एक जागरूक विचारक, समाजद्रष्टा तथा समाजसुधारक के रूप मे जाने जाते है। कबीर ने उस समाज का चित्रण किया है जो समाज अनेक बुराईयों से ग्रस्त था। छुताछुत, अंधविश्वास, रूढीवादिता पाखंड का समाज में बोलबाला था। हिंदू - मुसलमान आपस में लडते-झगडते थे समाज में सर्वत्र विषमता फैली हुई थी। तत्कालीन समाज में व्याप्त 'जॉती-पॉति प्रथा' उन्हें सबसे अधिक दुखदायक एवं असह्य प्रतित हुई। वर्णवादी व्यवस्था भी कोढ के समान समाज में व्याप्त थी। इस व्यवस्था पर गहरी चोट करते हुए वे कहते है।

''एक बुन्द एक मल मुतर, एक चाम, एक गुदा।। / एक जोति में सब उत्पन्ना, कौन बाम्हण कौन सूदा।।''

तत्कालीन समाज में हिंदू तथा मुसलमान यह दो प्रमुख धर्म थे। परंतु इन दो धर्मो के बीच अत्याधिक कटुता थी। इसका वर्णन तथा खंडन दोनों उनके काव्य में मिलते है।

''वही महादेव वही महमद ब्रहमा आदम कहियो। / के हिंदू को तूरक कहावै, एक जमी पर रहियो।।''

कबीर के समाज मे धर्मिक आडंबर, अंधविश्वास, कुरीतियाँ, पाखंड ढोंगी, मुल्ला-मौलवियों की भरमार थी। इसकारण कबीर ने जातीगत, वंशगत, संस्कारगत और शास्त्रगत रूढ़ियों तथा परंपराओं के मायाजाल को बुरी तरह से छिन्न-भिन्न कर दिया है। हिंदु लोग जो मंदिरों मे धार्मिक विधी करते है, तिर्थाटन करते है उनका तथा मुस्लिम समाज की धार्मिक मान्यता उनके हज-नमाज का वर्णन तथा उसकी निरर्थकता का भी वर्णन उन्होंने अपने काव्य मे किया है। पशुहत्या का भी वर्णन उनके काव्य में दिखाई देता है। अपने समय के लगभग सभी स्थितियों का वर्णन उनके काव्य मे प्राप्त होता है।

एक प्रकार से यह युग सामाजिक विश्रृंखलता का युग माना जाता है। महात्मा कबीरजी ने अपने युगीन परिस्थितियों को अपने काव्य मे रचा है। उन्होने समस्त जातिगत, साम्प्रदायिक विभेदों का खंडन कर मनुष्य को केवल मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठा दी है। उन्होंने सामाजिक समन्वय पर बल दिया। साथ ही व्यक्ती के सुधार को भी वे महत्त्व देते है, क्योंकी उनका मानना है कि व्यक्ति से ही समाज बनता है। अगर व्यक्ति का आचरण शुद्ध हो तो वह समाज और संस्कृति अपने आप आदर्श कहलाती है।

सूफीकाव्य

हिंदी प्रेमाखानक काव्य परंपरा के प्रमुख कवि मलिम मुहम्म्द जायसी है। जायसी का प्रमुख महाकाव्य 'पदमावत' एक प्रकार से तत्कालीन भारतीय हिंदु संस्कृति तथा लोकजीवन का दर्पण कहलाता है। मुसलमान होने बावजुद उन्होंने बडे सुंदर तरिके से भारतीय समाज, उसके तौर-तरिके, आचार-विचार, रहन-सहन, व्रत-त्योहार, धार्मिक विधी, संस्कृति तथा संस्कारों का वर्णन किया है। नि'चय ही जायसी ने हिंदुओं की जीवन-पद्धती, रिती-रिवाज, संस्कृति तथा जनजीवन को निकट से देखा-परखा तथा जाना था। ''लोकजीवन का एक विशिष्ट पहलू लोक की आपनी संस्कृति होती है, जिसमें लोक का व्यवहार उसके आचार मूर्त होते है। जन्म से मृत्यु तक के संस्कार और उनसे जुडा लोक संस्कार, लोक मन का हर्ष उल्लास और दुख दाह, उसका अंग है। जन्म, नामकरण, लग्न विवाह, सुहागरात, भोजन, जेवनार आदि तथा मृत्यु तक के सारे विधान 'पदमावत' मे है। अपने पुरे ब्योरे के साथ अवधप्रदेश के सारे व्यंजन वहॉ वर्णित है। लोकमन में रूढीबद्ध तंत्र-मंत्र, भुत-प्रेत बाधा, शकुन, अपशकुन, मुहुर्त विचार सबकी चर्चा वहॉं पर है। दान-पुण्य, देशाटन, तीर्थाटन आदि का उल्लेख प्रसंग के अनुरूप है। अंधआस्थाएँ और अंधविश्वास जो लोकमन मे गहरे विद्यमान है उसकी भी चर्चा है। कहने का मतलब यह है कि लोकजीवन के सकारात्मक, नकारात्मक कोई भी पहलू जायसी के निगाह से छूटा नही है।'' इन सभी पहलूओं का जिक्र 'पद्मावत' में किया गया है।

भारतीय सामान्य जनता में व्याप्त गंडा-ताविज, जादु-टोना आदि का वर्णन भी उनके काव्य मे प्राप्त होता है।

''एहि कर गुरु चमारिन लोना। / सिखा कांवरू पाढन टोना।।''

हिंदुओं के सभी धार्मिक मान्यता जैसे उपासना पद्धती जप-तप-व्रत, उनके तिर्थस्थान तथा तैतीस कोटी देवी-देवताओं का वर्णन भी उन्होंने अपने काव्य में किया है

''तैंतिस कोटी देवता साजा, औ छयानवे मेघ दर गाजा।।''

एक मुसलमान कवि होने के कारण तथा तत्कालीन एक प्रमुख धर्म मुस्लिम होने के कारण उन्होने अपने काव्य से कही कही इस्लाम धर्म की बातों का भी जिक्र लिया है। हिंदु धर्म में पॉच तत्वों से सृष्टी की उत्पत्ती मानी जाती है तो इस्लाम धर्म मे चार तत्वों से अत: अपने काव्य में उन्होने इस्लाम धर्म के मतो को प्रधानता दी है -

''किन्हेसि, आगिनी पवन जल खेह। / किन्हेसि बहुतेइ रंग उरेह।।''

तत्कालीन समाज में प्रचलित रिती रिवाज, संस्कार, परंपराएँ, लोकाचार आदि लोकतत्वों का तथा हिंदु परिवारों मे व्याप्त विभिन्न संस्कारों का वर्णन तथा प्रयोग 'पदमावत' में किया गया है। पदमावती के जन्मपर नामकरण संस्कार तथा उस अवसर पर 'देवीपूजन' को उन्होने यहाँ दर्शाया है। विवाह के अवसरपर किए जाने वाले लोकाचार तथा पंडितो की उस असवर की भूमिका का भी वर्णन मिलता है। स्त्रियों के सोलह श्रृंगार तथा का बारहमासा का भी वर्णन किया गया है।

पदमावत' में हिंदूओं के उत्सव, पर्व-त्योहार, वसंत पंचमी, होली, दिवाली तीज आदि का भी वर्णन पाया जाता है। दिपावली के अवसर पर नागमती अपने सखियों से कहती है

"अबहूं निठूर आव एहि बारा। परब देवारी होई संसारा।।"

साथ ही भारतीय लोककथा रामायण, महाभारत, भागवत, हरिश्चंद्र, गोपिचंद का वर्णन। मुहुर्त शकुण-अप'कुण, ज्योतिष विद्या आदि का भी वर्णन किया गया है। पति-पत्नी के अटुट संबंध तथा पती के मृत्यु के बाद स्त्रियों का सती जाना इन क्रुर प्रथाओं का भी निर्वाह जायसीने 'पदमावत' मे किया है। रत्नसेन के मृत्यु के बाद नागमती तथा पदमावती के सती जाने की घटना का वर्णन यहाँ किया गया है।

तत्कालिन आर्थिक जीवन का पता हमे इनके काव्य में प्राप्त होता है। सिंहलीद्वीप के हाट-बाजारों का वर्णन

तथा उच्च स्तर के व्यापारों का वर्णन यहाँ मिलता है –

"पै सुहि उँच वनिज तहँ केरा धनी पाउ निधनी मुख हेरा।
लाख करोरान्हि वस्तु बिकाई सहसान्हि केरान कोई ओनाई।।"

जायसी ने किसी ऐतिहासिक कथा को न लेते हुए लोकप्रचलित कथा का वर्णन 'पदमावत' में किया है। जिसमें तत्कालीन समाज संस्कृति तथा संस्कार अपने पुर्ण रूप में विद्यमान है।

कृष्णकाव्य

कृष्ण के परमभक्त सुरदासजी ने अपने काव्य में कृष्ण के लीलाओ के वर्णनद्वारा ब्रज के लोकजीवन तथा लोकसंस्कृति का उद्घाटन किया है। ब्रजप्रदेश के सामाजिक जीवन की सुंदर अभिव्यक्ती सुर के काव्य मे हुई है। कृष्ण नंद तथा यशोदा के पुत्र के रूप में ब्रज के ग्वालों तथा गोपियों के साथ घुल-मिलकर अपना जीवन बिताते है। कृष्ण के चित्रण के माध्यम से सुरदासजी ने तत्कालीन समाज मे प्रचलित विविध संस्कारों, रूढियों, धार्मिक, विश्वासों, प्रथाओं तथा धार्मिक एवंम सामाजिक पर्वो और उत्सवों का सुंदर चित्रण अपनी बंद ऑखो से किया है। ''यहाँ ऐसी ग्रामीण संस्कृती है जो अपनी जिवंतता में अनुपम है। ब्रज की जीवंत क्रियाशील जिंदगी को अंधे सुरदास ने हम सबको उसके सारे वैविध्य के साथ दिखाया है। ब्रज के लोकपर्व, तिथी-त्योहार, उत्सव बाजार, मेले आदि ही नही जैसा की हमने कहॉ ब्रज के निवासियों की दैनंदिन अजिवन की एक-एक रेखा सुर ने उकेरी है।''

सुरदासजी ने वर्षा ऋतु के हिंडोल तथा वसंत के होली के उत्सव का भी वर्णन विस्तार से किया है –

''इत श्री राधा, उत श्री गिरिधर, इत गोपी उत ग्वाल।
खेलत फागु – रसिक ब्रज वनिता सुंदर श्याम तमाल।।''

मनोवांछित पति के प्राप्ती के लिए कन्याऍं जो जप-तप-व्रत, पुजा करती है उसका भी वर्णन सुर ने अपने 'चीरहरण लीला' में किया है। तत्कालीन समाज के स्त्रियों की आभुषण प्रियता, अंगप्रसाधन, श्रृंगार आदि का वर्णन तथा समाज की नैतिक मान्यता अर्थात स्त्री पर जो अनेक बंधन होते है उसका भी वर्णन किया गया है। लडकियाँ लडकों के समान बाहर मुक्त रूप से घुम-फिर नही सकती थी। उसपर अनेक पाबंदिया लगाई गई थी। जिसका वर्णन भी सुर ने अपने काव्य में किया है।

रामकाव्य

महाकवि तुलसीदास राम के परमभक्त के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते है। उनके 'रामचरितमानस' में तत्कालीन युग का लोकजीवन, संस्कृती तथा संस्कार अपने पुर्ण रूप में विद्यमान दिखाई देते है। तुलसीदासजीने समाज की दयनीय, अवस्था,अकाल, भुखमरी,महामारी अर्थिक वैषम्य, स्वार्थी शासकों तथा दुषित सामाजिक वातावरण का चित्रण अपने काव्य मे किया है। एक तरह से विछिन्न, विश्रृंखल एवंम लक्षहीन लग रहा था। ऐसे समाज को सही दिशा देने का काम तुलसीदासजी ने अपने काव्य मे किया है। वास्तव में साहित्य समाज का दर्पण कहलाता है, लेकीन उसके साथ-साथ वह समाज के निर्माण और दिशा निर्देश में भी महत्त्वपुर्ण भूमिका निभाता हुआ दिखाई देता है।

तत्कालीन शासकों की स्वेच्छाचारी प्रवृत्ती का उनका निरंकुश शासन, भोगवादी वृत्ती जनता की हतबलता तथा अर्थहीनता का वर्णन यहॉ किया गया है। इस काल के शासक भी किस प्रकार से अयोग्य, अ'ाक्षित थे उसका वर्णन यहाँ मिलता है।

''गोंड गॅवार नृपाल कलि यवन महा महिपात्र। / साम न दास न भेद, कलि केवल दंड कराल।।''

तुलसीजी ने अपने रामकाव्य में उस युग का चित्रण किया है जिस युग मे भारत पर लगातार विदेशी आक्रमण कर रहे थे साथ ही युगीन शासक दुराचारी कर्तव्यहीन थे, उनका जीवन केवल भोगविलास मे लिप्त था। वे मर्यादाहीन थे। विदेशी आक्रमणकारी युद्ध में विजयी होनेपर किस प्रकार स्त्री-पुरूषों को बांधकर अपने साथ ले जाते थे इसका वर्णन तुलसी ने अपने काव्य में किया है।

''भुजबल विश्वबस्य करि राखेसि कौन सुतंत्र। / मांडलिक मुनि रावन राज करई निज मंत्र।।''

राजा की उपेक्षा तथा विदेशी आक्रमणों से तत्कालीन जनता त्रस्त थी, प्रजा की आर्थिक स्थिती शोचनिय थी। बार-बार अकाल पडता था। अन्न के अभाव मे प्रजा भुखी मर रही थी। तुलसी ने अपने काव्य में इस का वर्णन किया।

''खेती व किसान को भिखारी कोन न भेख बलि।
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी ।।
दारित दसानन दवाई दुनि दिन बंधु।
दुरित दहन देखि तुलसी हाहाकारी।।''

तुलसी के समय वेद और धर्म एक-दूसरे से दुर हो चुके थे। सज्जन लोक दुःखी थे, सर्वत्र पाप ही पाप था। समाज में धर्म जैसे समाप्त हो रहा था। ब्राम्हण वेदों को बेच रहे थे, राजा प्रजा का शोषण कर रहा था। वेदशास्त्र की कोई भी आज्ञा नही मानता था, उनका सर्वत्र अवमान हो रहा था।

''द्विज श्रृति बेचक भुप प्रजासन। कोऊ नही मान-निगम अनुशासन।।

इस प्रकार तुलसीदास ने अपने समय के आदर्श-विहीन, संस्कृति-रहित, पथभ्रष्ट मर्यादापठित एवं नितांत हासोन्मुखी विश्रृंखलित समाज का वर्णन अपने काव्य में किया है।

भक्तिकाल के सभी प्रमुख कवियों के जीवन का उसकी संपूर्णता के साथ चित्रण किया है। जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कार तथा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक स्थितीयों का कच्चा-चिठ्ठा बया किया है। मनुष्य के जीवन से जुड़ी हर घटना, हर भाव हर पक्ष को उन्होंने काव्य में उजागर किया है। इन्होंने प्रमुखतः अपने काव्य में सामान्यजनों की अवस्था को वाणी देणे का प्रयास किया है। सभी प्रतिनिधी कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से तत्कालिन समाज तथा संस्कृति का उदघाटन किया है जो निश्चित ही सराहनीय है।

संदर्भ :-

1. शिवकुमार मिश्र - भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य 2010 पृ.101।
2. वही - पृ. 125
3. रामचरितमानस - बालकाण्ड पृ. 171।
4. रामकाव्य के प्रगति'ीील आयाम - डॉ. नारायणदुबे पृष्ठ क्र. 18।

Are Credit Rating Agencies boost the financial crisis?

Kiran Bala & Neha Arora
Research Scholars, Department of Commerce, DSE

Introduction and Importance of Credit Rating Agencies

Credit ratings aim to measure the creditworthiness of an entity or a corporation. They represent an opinion of a rating agency that evaluates the fundamental credit strength of an issuer and his ability to fully and timely meet his debt obligations (Gonzales, et al., 2004), (Berblinger, 1996) and (Wappenschmidt, 2009). Credit ratings are produced by professional rating agencies which are known as Credit Rating Agencies. The three largest Credit Rating Agencies, Moody's Investor Service, Standard & Poor's (S&P) and Fitch Ratings are collectively referred to as the "Big Three" due to their substantial market share (Baker & Gerald, 2011). According to the most recent U.S Securities and Exchange Commission report, the agencies together account for approximately 96% of all credit ratings. As of December 2012, S&P is the largest of the three, with 1.2 million outstanding ratings and 1,416 analysts and supervisors. Moody's is the second largest agency, with 1 million outstanding ratings and 1,252 analysts and supervisors (Jeannette Neumann, 16 November 2012). Fitch is the smallest of the Big Three, with approximately 350,000 outstanding ratings (Klein, 23 November 2004).

Over the past 25 years, India's credit rating industry has also played a pivotal role in raising standards and strengthening the credit culture that prevails in the country. There are six credit rating agencies registered with the Securities and Exchange Board of India that are CRISIL, ICRA, CARE, India Ratings and Research (formerly Fitch Ratings) and Brickworks. According to Mohan (2000) CRISIL has been the oldest, having been in operation since 1988 followed by ICRA (1991), CARE (1994), Duff & Phelps, subsequently taken over by Fitch (1999) and Brickworks (2008). India has one of the largest pools of rated companies globally. The public availability of rating on firms has significantly improved transparency in the system. The coverage of smaller companies has brought Credit Rating Agencies to the notice of investors and banks and enhanced their fund-raising opportunities. Now companies are more conscious about financial discipline and timely servicing of their debt because ratings subject companies to public scrutiny. Therefore, Credit Rating Agencies have become very important players in financial markets due to growth in capital markets, credit derivative markets and globalization of capital markets. Credit Rating Agencies affect both the supplier and buyers of credit. Any error in the credit rating process has an immediate and significant impact on buyers and sellers of credit. It also affects the overall performance of the financial markets. Ratings are placed on a discrete ordinal scale, for example under the S&P (Standard & Poor's) scale an AAA (triple A) rating is the highest credit rating which is considered to have the highest degree of safety regarding timely servicing of financial obligations. Such instruments carry lowest credit risk and a D rating is the lowest credit rating which is considered to have very high risk of default regarding timely servicing of financial obligations. Banks also approve loans on the basis of ratings given by Credit Rating Agencies (Krahnen, 2001).

It is also a notable feature that Indian Credit Rating Agencies provide technical expertise and knowhow to Credit Rating Agencies in Mexico and other countries in the SAARC and Asian Regions. This provides an emerging markets perspective. India has five Credit Rating Agencies in comparison to three in USA.

Thus, competition is stiûer because there are more Credit Rating Agencies for a ûnancial market that is smaller than USA in value and hence dilutes oligopolistic power (Arora, 2001). But there is a debate of the "Accountability Gap" of Credit Rating Agencies which includes issues such as corporate failures, conflict of interest, lack of transparency and issuers influence because Credit Rating Agencies have been highly influential over the credit supply to firms and nations but are not held accountable for their actions.

This paper analysis are Credit Rating Agencies boost financial crisis in terms of the reputational crisis of Credit Rating Agencies that is whether credit Rating Agencies actually measure what they claim to measure. This research also investigates the limitations of Credit Rating Agencies. We also analyse up to what extent Credit Rating Agencies playing credible role Indian financial markets.

Reputational Crisis of Credit Rating Agencies

We measure the relationship of ratings and corporate default for measuring whether Credit Rating Agencies actually measure an issuer's creditworthiness. Therefore, it would be pertinent to look for correlations between ratings of products and the actual performance of the rated instruments.

Inspection of Credit Rating Agencies

Securities and Exchange Board of India conducted site inspection visits to the Credit Rating Agencies in 2001. It was a detailed inspection of the records and procedures. It was found that the record-keeping was not suûcient, particularly proofs of Credit Rating Agencies visits to rated entities, minutes of meetings with clients, minutes of meetings of rating committees etc. It was also observed that a more in-depth probing by the Credit Rating Agencies need to be conducted. Some entities were pleasantly surprised to get an AAA within a month after one site visit and management interaction (Arora, 2001).

Response and Judgement of Credit Rating Agencies

On the subject of ûnancial markets beating the Credit Rating Agencies, Credit Rating Agencies in reacting to adverse news, it has been observed that the Credit Rating Agencies have exhibited slower response. The major study in this genre was by T Geetha (PhD thesis, IIT Bombay) concluded in 2001 has concluded that the markets react faster in incorporating fresh news into asset price movements. It was also found that, in actual practice, the Credit Rating Agencies use a lot of subjectivity in their judgement.

Role played by Credit Rating Agencies in the financial crisis

Credit Rating Agencies contributed to the financial crisis which began in the United States in 2007 with problems in the subprime mortgage market and has since taken on global dimensions. The agencies underestimated the credit risk associated with structured credit products and failed to adjust their ratings quickly enough to deteriorating market conditions. Therefore, Credit Rating Agencies were accused of both methodological errors and unresolved conflicts of interests and due to this confidence in the reliability of ratings of market participants were seriously shaken. A heated debate emerged about the rating process, rating agencies, competition, and liability rules, prompting calls by politicians for greater regulation of Credit Rating Agencies. Therefore, in the wake of the financial crisis of 2007–2010, the rating agencies came under criticism from investigators, economists, and journalists and dozens of suits involving claims of inaccurate ratings were filed against the rating agencies by investors (S&P Lawsuit First Amendment Defense May fare, 2003)

Report of Financial Crisis Inquiry Commission (2011) concluded that the "failures" of the Big Three rating agencies were "essential cogs in the wheel of financial destruction" and "key enablers of the financial meltdown". It went on to say The mortgage-related securities at the heart of the crisis could not have been marketed and sold without their seal of approval. In some cases they were obligated to use them or regulatory capital standards were hinged on them. This crisis could not have happened

without the rating agencies. Their ratings helped the market soar and their downgrades through 2007 and 2008 wreaked havoc across markets and firms.

U.S. Securities and Exchange Commission Commissioner Kathleen Casey complained the ratings of the large rating agencies were "catastrophically misleading", yet the agencies "enjoyed their most profitable years ever during the past decade" while doing so (Sinclair & Timothy J. (2005). According to S&P (2013) it is beyond argument that ratings agencies did a horrendous job evaluating mortgage-tied securities before the financial crisis hit

In the book on the crisis "All the Devils Are Here" Journalists Bethany McLean, and Joe Nocera criticized rating agencies for continuing "to slap their triple-A ratings on subprime securities even as the underwriting deteriorated and as the housing boom turned into an outright bubble" in 2005, 2006, 2007.

Sovereign Credit Rating of the Indian Economy

The sovereign credit rating by a rating agency indicates the risk level in the investing environment of a country and influences the investors' decisions when investing abroad. At present, India's sovereign rating is BBB- according to Standard and Poor's and Fitch, while Moody's has rated the country at Baa3. But the question arises here is can we trust these ratings as in October 2012 credit rating agencies have been blamed for misjudging the economy, trying to downgrade the country's image and putting India in high fiscal and current account deficit and poor economic condition. Based on those ratings most of the investors have sold Indian securities and stopped incremental investments resulted in depressed capital flows and high cost of borrowings. However, World Bank's growth forecast was quite optimistic that is 6 per cent as compared to other agencies, including IMF, which has projected India to grow at 4.9 per cent in 2012.

As reported in the Mint newspaper in 2012, Finance Minister P. Chidambaram, speaking to media persons, said that 'India doesn't face an immediate or serious threat of a credit rating downgrade. Credit rating agency Standard and Poor's (S&P) had said on Wednesday that India still risks a ratings downgrade in the next 24 months despite the recent spate of policy changes. Two years is a long time, Chidambaram said "You will see a lot of reforms, a lot of change, lot of strengthening of the Indian economy," he said. "I don't think there is a serious threat of downgrade." The government, however, takes rating agencies seriously, he added. "We take talk of a downgrade seriously and we will engage with the rating agencies and convince them that India does not deserve a downgrade and in terms of growth and potential of growth, India is way above most countries in the world"

Credit Rating Agencies performed the alchemy that converted the securities from F-rated to A-rated (Utley, 1996). Therefore we can say that rating agencies as one of the key culprits.

Probable factors for above evidences against Credit Rating Agencies or Limitations of Credit Rating Agencies

1. Non-disclosure of significant information

Firm being rated may not provide significant or material information to the investigation team of the credit rating company. Thus, any decisions taken in the absence of such significant information may put investors at a loss.

2. Static study

Rating is a static study of present and past historic data of the company at one particular point of time. There are a number of factors including economic, political, environment, and government policies that a have direct bearing on the working of a company. Any changes after the assignment of rating symbols may defeat the purpose of risk indicativeness of rating.

3. Rating is no certificate of soundness

Rating grades by the rating agencies are only an opinion about the capability of the company to meets its interest obligations. Rating symbols do not pinpoint towards quality of products or management or staff etc. In other words rating does not give a certificate of the complete soundness of the company.

4. Rating may be biased

Personal bias of the investigating team might affect the quality of the rating. The companies having lower grade rating do not advertise or use the rating while raising funds from the public. In such a case the investors cannot get the true information about the risk involved in the instrument.

5. Rating under unfavourable conditions

Rating grades are not always representative of the true image of a company. A company might be given low grade because it was passing through unfavourable conditions when rated. Thus, misleading conclusions may be drawn by the investors which hamper the company's interest.

6. Difference in rating grades

Same instrument may be rated differently by the two rating agencies because of the personal judgment of the investigating staff on qualitative aspects. This may further confuse the investors.

Regulatory Framework of Credit Rating Agencies

What has already been done?

SEBI Regulations

The Securities and Exchange Board of India (Credit Rating Agencies) Regulations, 1999 empower SEBI to regulate Credit Rating Agencies operating in India. In fact, SEBI was one of the first few regulators, globally, to put in place an effective and comprehensive regulation for Credit Rating Agencies. In terms of the SEBI Regulations, a CRA has been defined as a body corporate which is engaged in or proposes to be engaged in, the business of rating of securities offered by way of public or rights issue. SEBI has also prescribed a Code of Conduct to be followed by the rating agencies in the CRA Regulations. However, SEBI administers the activities of Credit Rating Agencies with respect to their role in securities market only. SEBI Act requires all Credit Rating Agencies to be registered with SEBI.

The detailed SEBI regulations for Credit Rating Agencies are given in Annexure 2 which are related to code of conduct stipulated by SEBI, agreement with the client, monitoring of ratings, procedure for review of rating internal procedures to be framed by the CRA, disclosure of rating definitions and rationale by the CRA, submission of information to the board, compliance with the circulars issued by the board, appointment of compliance officer, maintenance of books of accounts records and rating process.

These regulations cover issues with respect to confidentiality of information and disclosure with respect to the rationale of the rating being assigned. Several other provisions exist, like the regulator's right to inspect a CRA. An important feature of the regulation is that Credit Rating Agencies are prohibited from rating their promoters and associates.

SEBI's code of conduct for Credit Rating Agencies (The complete SEBI Code of Conduct seen in Annexure 3) addresses some of the basic issues relating to conflicts of interest. The Code of Conduct is designed to ensure transparent and independent functioning of Credit Rating Agencies. Some of the salient provisions of the Code of Conduct are : Credit Rating Agencies shall make all efforts to protect the interests of investors, They shall at all times exercise due diligence, ensure proper care and exercise independent professional judgment in order to achieve and maintain objectivity and independence in

the rating process, All Credit Rating Agencies shall have in place a rating process that reflects consistent and international rating standards, They shall keep track of all important changes relating to the client companies and shall develop efficient and responsive systems to yield timely and accurate ratings, Further they shall also monitor closely all relevant factors that might affect the creditworthiness of the issuers, They shall disclose its rating methodology to clients, users and the public, Agencies shall not make any exaggerated statement, whether oral or written, to the client either about its qualification or its capability to render certain services or its achievements with regard to the services rendered to other clients. The complete SEBI Code of Conduct may be seen at Annexure 3.

International Regulation

International Organization of Securities Commissions (IOSCO) published Statement of Principles regarding the activities of Credit Rating Agencies in order to improve investor protection and the fairness, efficiency and transparency of the securities markets and reduce systemic risk." The four principles address:

1. Quality and integrity in the rating process
2. Independence and conflicts of interest
3. Transparency and timeliness of ratings disclosure
4. Confidential information

Although ethics issues are inherent in each of the principles, the second principle seems most important. It states "CRA rating decisions should be independent and free from political or economic pressures and from conflicts of interest arising due to the CRA's ownership structure, business, or financial activities, or the financial interests of the CRA employees. Credit Rating Agencies should, as far as possible, avoid activities, procedures or relationships that may compromise or appear to compromise the independence and objectivity of credit rating operations."

IOSCO issued additional guidance in the form of code of conduct fundamentals for Credit Rating Agencies in December 2004 and an IOSCO CRA task force issued an updated version of the code to deal with issues of structured finance in May 2008. The final report, Regulatory Implementation of the Statement of Principles Regarding the Activities of Credit Rating Agencies, was published by IOSCO in February 2011.

Recommendations

What is required to be done ?

1. There should be more regulation of credit rating agencies and the objective of regulating Credit Rating Agencies can only be to make ratings more reliable and mitigate conflicts of interests.
2. Executive-level compliance officer position at Credit Rating Agencies should be created to ensure implementation and enforcement of the SEBI code of conduct fundamentals for credit rating agencies that is Regulatory authorities need to ensure Credit Rating Agencies institute internal controls, credit rating methodologies and employee conflict of interest safeguards that advance rating accuracy.
3. Requiring complete adoption of the SEBI code to claim compliance that is investors can file a suit against Credit Rating Agencies if Credit Rating Agencies rate the instrument without conducting a reasonable investigation.
4. Regulators should reduce reliance of investors on credit rating which is given by private Credit Rating Agencies.
5. In India, where literacy is at a nascent stage, multiple rating symbols could confuse the investing community. It could also result in rating inûation and foster unhealthy competition. Rating scales, brought under comparable bands, need to be hosted on the websites of SEBI, RBI, IRDA and PFRDA

and also on the sites of investors' associations.

6. Rating (both positive and negative) have a limited life and must be replaced within a reasonable span of time.
7. In the interest of unbiased judgement, it is necessary to constitute an Committee that is different from the one that was involved in the initial rating exercises.
8. Issuers attempt to seek informal ratings from various Credit Rating Agencies and pass the ûnal rating mandate to the agency that could potentially offer the highest rating. To curb this unhealthy practice, it is necessary to publish all ratings.
9. Finally the most important aspect of the entire rule-making process is ensuring that ethical principles are being followed in every aspect of every CRA's operations. Legal compliance can't succeed without ethical underpinnings.

Effective implementation of all of the above recommendations will increase the quality and reliability of credit rating tools, which will be very beneficial and valuable to investors. A careful look at what is required to be done reveals that there is scope for improvement. It is no surprise that ûnancial markets react faster to new information than the Credit Rating Agencies. By contrast, Credit Rating Agencies are required to be more guarded and restrained in either upgrading or downgrading issues on account of protocols like to wait for a conûrmation.

References

- (December 2012). *"Annual Report on Nationally Recognized Statistical Rating Organizations".* U.S. Securities and Exchange Commission.
- (Jeannette Neumann (16 November 2012), November 16). *"SEC says credit rating industry remains plagued by weak oversight". Financial News.*
- Arora, M. (2001). *Credit Rating in India – An Evaluation, PhD Thesis,Department of Financial Studies, University of Delhi (South Campus).*
- Berblinger, J. (1996). Marktakzeptanz des Ratings durch Qualitat, in Buschgen undEverling: Handbuch Rating Wiesbaden:. pp. 21-110.
- FINANCIAL CRISIS INQUIRY COMMISSION Final Report-Conclusions-January 2011 .
- Gonzales, F., Haas, F., Johannes, M., Persson, M., Toledo, L., Violi, R., . . . Wieland, M. (2004). Market dynamics associated with credit ratings: a literature review,Banque de France Financial Stability . *Review 4*, pp. 53-76.
- Klein, & Alec. (2004, November 23). "Smoothing the Way for Debt Markets". The Washington Post.
- Krahnen, J. (2001). Stichwort Rating Internes " Gerke und Steiner : Handworter buch des Bank- und Finanzwesens 3 Stuttgart". pp. 1767-1775.
- Mohan, R. (2000). "Credit Rating - A Paradigm Shift", Chartered Financial Analyst, ICFAI, Hyderabad.
- S&P Lawsuit First Amendment Defense May fare, P. E. (2003, February 4). "Investors, including public pension funds and foreign banks, lost hundreds of billions of dollars, and have since filed dozens of lawsuits against the agencies." Huff Post. Retrieved 4 September 2013.
- Sinclair, & Timothy, J. (2005). " The New Masters of Capital: American Bond Rating Agencies and the Politics of Creditworthiness". Ithaca, New York: Cornell University Press. Retrieved September 21, 2013
- Utley, M. (1996, June 12). "Orange County widens lawsuit to include S&P, Morgan Stanley". The Bond Buyer.
- www.iosco.org/library/pubdocs/pdf/IOSCOPD319.pdfý.
- *www.livemint.com/.../India-doesnt-face-a-threat-of-a-credit-rating-down.*
- www.sebi.gov.in/cms/sebi_data/commondocs/crateamend_p.pdfý.

नाट्य रूपान्तरण : प्रक्रिया और प्रयोग

मणि कुमार

जब प्रतिभाशाली सर्जनशील रंगकर्मी हिन्दी रंगमंच की ओर आकर्षित हुए जो रंगकर्म को सृजनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम मानते थे, तब ऐसे रंगकर्म की तलाश प्रारम्भ हुई जो उन्हें कलात्मक दृष्टि प्रदान कर सके और साथ ही जो रंगकर्म को केवल मनोरंजन का नहीं बल्कि जीवन के सत्य और यथार्थ की गहरी खोज और प्रस्तुति का माध्यम बन सके। इसी तलाश के अन्तर्गत कई रंग–प्रयोग हिन्दी रंगमंच में किए जाने लगे जिनमें से एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग रहा कथा एवं काव्य साहित्य का नाट्यरूपान्तरण।

नाटक का दृश्य–श्रव्य होना उसे कहानी, उपन्यास एवं कविता जैसी साहित्यिक विधाओं से अलग कर देता है, जिनकी रचना मूलतः किसी पाठक द्वारा पढ़े या सुनने के लिए ही होती है। परन्तु कहानी, उपन्यास एवं कविता में भी किसी–न–किसी रूप में छोटा–बड़ा नाटक अवश्य मौजूद रहता है, और नाटक में भी कोई–न–कोई कहानी मौजूद रहती है। फर्क सिर्फ यह है कि नाटक मंच पर प्रस्तुत होता है क्योंकि वह मंचित होने के लिए ही रचा गया है न कि केवल पढ़ने के लिए। कुछ सर्जनशील निर्देशकों ने उपन्यास, कहानी, कविता में छुपे नाटकीय तत्त्व को खोजकर उनके सफल मंचन के द्वारा आज एक नई परिभाषा बनाई है कि कहानी, उपन्यास, कविता जैसी विधाएँ केवल पढ़ने–सुनने के लिए ही नहीं होती बल्कि दृश्यत्व का अनुभव देने के लिए भी हो सकती हैं और इसी का परिणाम है नाट्य रूपान्तरण का प्रयोग।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अपने विचारों को दूसरों तक सम्प्रेषित करना मानव की मूल प्रवृत्ति है। समाज में अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से मनुष्य को अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त होते हैं। अनुभवजन्य विचारों की तरंगें प्रायः उठकर विलीन हो जाती हैं, किन्तु मानव जब उन अनुभूतियों को अपने तक ही सीमित रखने में ही असमर्थ हो जाता है तो वह उन्हें अभिव्यक्त कर देता है। भावों की यह अभिव्यक्ति एक कला है, जो वाणी, कर्म तथा लेखनी के माध्यम से सम्पन्न की जा सकती है तथा सम्पन्नता के बाद यह साहित्य कहलाती है।

'मानव–मन की कलापूर्ण अभिव्यक्ति जब लेखनी के माध्यम से सम्पन्न होती है, तब उसे काव्य अथवा साहित्य की संज्ञा प्रदान की जाती है।'

भाषिक अभिव्यक्तियों में साहित्यिक अभिव्यक्ति मानव की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति है। साहित्य शब्द की परिभाषा देते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि जो भी अभिव्यक्ति हित के भाव को साथ लेकर चलती है वही साहित्य है, 'साहित्यः भावः साहित्यम्'।

साहित्यिक अभिव्यक्ति पहले गेयात्मक होती थी उसके पश्चात् अभिव्यक्तियों को 'काव्य' अभिधान मिला है। 'यदि साहित्य की पहली अभिव्यक्ति विधा के रूप में शायद कविता थी तो उसके तुरन्त बाद जिस विधा ने जन्म लिया वह नाटक थी। कविता और नाटक का रिश्ता तो इतना गहरा रहा है कि हमारे यहाँ और पश्चिम में भी नाटककार को कवि की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।'

प्राचीन काल से लेकर गद्यात्मक अभिव्यक्ति के आरम्भ काल तक काव्य पद्य या छन्दोबद्ध रूप में प्रस्तुत होता था। इसी रूप में काव्य के अनेक भेद विवेचित हुए हैं। गद्यात्मक अभिव्यक्ति के आरम्भ काल से साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ, परिणामस्वरूप साहित्य की अनेक विधाएँ और अनेक रूप भी विकसित हुए। इस सम्बन्ध में विद्वानों ने बहुत चर्चाएँ की हैं। उन चर्चाओं के फलस्वरूप जो काव्य–रूप का विधात्मक विभाजन उभरा है वह निम्न प्रकार है, 'इन्द्रिय–सन्निकर्ष के आधार पर संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के दो भेद किए हैं – श्रव्य काव्य एवं दृश्य काव्य। श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से जिस काव्य का रसास्वादन किया जाए उसे श्रव्य काव्य की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, वह काव्य जिसके

रसास्वादन के निमित्त प्रमाता अथवा सहृदय दर्शक श्रवणेन्द्रिय के साथ–साथ नेत्रों का भी उपयोग करता है, दृश्यात्मकता में सन्निहित है। रंगमंच से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।'

रूपान्तरण का अर्थ, स्वरूप– किसी एक रूप को दूसरे रूप में अन्तरित करना रूपान्तरण कहलाता है। यह किसी भी माध्यम से घटित किया जा सकता है। साहित्य के क्षेत्र में किसी एक साहित्यिक रूप का दूसरे साहित्यिक रूप में अवतरण करना साहित्य का रूपान्तरण है। यह चार रूपों में रूपान्तरण, भाषान्तरण, माध्यमान्तरण, लिप्यन्तरण हो सकता है।

रूपान्तरण अर्थात् एक रूप को बदलकर दूसरे रूप में उस रूप का परिवर्तन करना। यह रूपान्तरण साहित्यिक विधाओं में भी हो सकता है तथा साहित्येतर भी हो सकता है। भोलानाथ तिवारी इस विषय में कहते हैं, 'रूपान्तरण (Adoptation)– इस शब्द का अर्थ है रूप को बदलना। अनुवाद के इस प्रकार में रूपान्तरणकार मूल को अपनी रुचि, सुविधा तथा आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित करके लक्ष्य भाषा में रखता है। इसमें मूल सामग्री, संक्षिप्त या विस्तृत, सरल या कठिन तथा विधा रूप में परिवर्तित (अर्थात् कहानी से नाटक, नाटक से कहानी आदि) होकर आती है। पात्रों के नाम, देशकाल, या वातावरण आदि परिवर्तित किए भी जाते हैं और नहीं भी। भारतेंदु ने शेक्सपियर के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का अनुवाद 'दुर्लभ बन्धु' अर्थात् श्वंशपुर का महाजन' नाम से किया था। इसमें कथा को पूरी तरह भारतीय कर दिया गया है। रेडियो पर प्रायः विभिन्न प्रकार के रूपान्तरण आते हैं।'

साहित्यिक रूपान्तरण की परम्परा – भारत में रूपान्तरण की प्रक्रिया अत्यन्त प्राचीन रही है। रामायण और महाभारत की कथाओं को नाट्य रूप में अभिनय करते हुए प्रस्तुत किया जाता था। कुछ लोगों का व्यवसाय बन गया था। 'रामायण और महाभारत के ये व्यावसायिक कथावाचक स्थान–स्थान पर कथा–पारायण का आयोजन रचते थे। ग्रामीण जनता के धार्मिक और सांस्कृतिक ज्ञान के यही शिक्षक होते थे।' क्योंकि उस समय पढ़ना–लिखना हर कोई नहीं जानता था फिर भी रामायण तथा महाभारत की कथा सबको मालूम थी। इसका श्रेय इन रामायण तथा महाभारत के 'कथावाचकों' को ही जाता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में इतिहास और पुराणों के लेखन के बाद उनमें जो कथा या गाथाएँ मिलती हैं उनके प्रचार–प्रसार की आवश्यकता महसूस की गई, चाहे वह धार्मिक कारणों से ही क्यों न हो। इस आवश्यकता के कारण कहानी अथवा आख्यान के रूप में मिलने वाली वस्तु को अनेक माध्यमों के द्वारा रूपायित करने की परम्परा का श्री गणेश हो जाता है। पहले अधिकतर नाटक कथा–गायन के रूप में होते थे। 'कथा गायन की यह शैली आज भी समूचे देश में अलग–अलग भाषा क्षेत्रों में अलग–अलग नामों से प्रचलित है। तमिलनाडु का 'हरिकथाकलाक्षेपम्', आन्ध्र प्रदेश की 'बुर्र–कथा', महाराष्ट्र और राजस्थान के 'पवाड़े', हिन्दी प्रदेश का 'आल्हा', गोपीचन्द और पूरण भगत आदि के 'गाथागीत', छत्तीसगढ़ की रामायण और महाभारत की 'लोक–गायन परम्परा', पंजाब का 'हीर–रांझा' ये सभी अत्यन्त लोकप्रिय हैं।' इस तरह जिन–जिन विधाओं–कथाओं का रूपान्तरण हुआ वे इस प्रकार हैं–

(क) पौराणिक आख्यानों का नाट्य रूपान्तरण

(ख) भक्ति–साहित्य से लीलाओं का रूपान्तरण (रामायण तथा महाभारत से)

(ग) लोक–साहित्य के रूप में रूपान्तरण

(घ) नवीन आविष्कारों के साथ (रेडियो, सिनेमा, तथा दूरदर्शन) रूपान्तरण

(ङ) अन्य कथा रूप, नवीन साहित्यिक विधाओं (कहानी, उपन्यास, कविता आदि) का रूपान्तरण।

भारत में रूपान्तरण की प्रक्रिया प्राचीन काल से चली आ रही है। पुराण, महाकाव्य, ऐतिहासिक घटनाओं आदि का रूपान्तरण होता है। लेकिन उस समय किसी एक पक्ष को या किसी एक घटना को लेकर ही अधिकतर रूपान्तरण किया जाता था और जिसे सम्पूर्ण रामायण, महाभारत आदि की संज्ञा दी जाती थी। दरअसल यह भी सम्पूर्ण नहीं होता था, सम्भव भी नहीं था। जैसे आज दूरदर्शन के माध्यम से देखते है उसमें कई पुराणों, ग्रन्थों आदि की सहायता से व्यापक रूप में रामायण या महाभारत को दर्शाया जाता है। इस बात का प्राचीन के रूपान्तरण में अभाव था।

नाट्य रूपान्तरण– नाटक की परम्परा हमारे आदि नाट्य साहित्य में प्रारम्भ से ही विद्यमान रही है, किन्तु उसका स्वरूप समय–समय पर बदलता रहता है। उसी बदलाव का एक रूप नाट्य रूपान्तरण है। किसी एक रूप को दूसरे रूप में अन्तरित करना रूपान्तरण कहलाता है। यह किसी भी माध्यम से घटित

किया जा सकता है। हिन्दी नाट्य प्रवाह में रूपान्तरण एक विधा की प्रमुखता पाकर साहित्य की गरिमा को और भी अग्रसर कराकर विकास यात्रा के पथ पर निरन्तर अग्रसर कर रहा है।

स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश में अनेक नवीन प्रयोगों के लिए प्लेटफॉर्म तैयार करने में सफल हुई है। अनुवाद के इस अगले रूप, रूपान्तरण की सार्थकता पर दृष्टि डालते हुए गिरीश रस्तोगी इस प्रक्रिया को नीचे दिए गए वक्तव्य से परिभाषित करते हैं कि, 'नाट्य रूपान्तरण न गौण वस्तु है, न द्वितीय तृतीय स्तर की चीज। यह भी सृजन है– एक मौलिक कृति का पुनर्सृजन इसलिए उसका तात्पर्य किसी बनी–बनाई रचना का केवल इस्तेमाल करना नहीं है– उस रचना में अन्तर्निहित दूरगामी सम्भावनाओं और काल एवं साहित्य के विलक्षण सम्बन्ध सूत्र को तलाशना, पुराना और नवीन सौन्दर्य–बोध के साथ बड़े समूह तक सम्प्रेषण करना है। लिखित शब्दों को दृश्यात्मक लय, टोन और भिन्न आकार देना है।'

आधुनिक काल के रूपान्तरण का आरम्भ 'सातवें–आठवें दशक में जब हिन्दी रंगमंच अपने संघर्ष और रचनात्मक उत्कर्ष पर था और नाट्य–लेखन एवं रंगकर्म, नाटककार, निर्देशक के सामने चुनौतियाँ थीं और सभी विधाएँ–कलाएँ गड्ड–मड्ड होती हुई नए कलाबोध को तलाश रही थी, तब उसी सक्रिय दौर में संघर्षशील–आन्दोलनकारी मनोवृत्ति और मौलिकता के उत्साह तथा रचनात्मक जिज्ञासा के साथ नाट्य–रूपान्तरण का आरम्भ हुआ। अनुवादों के साथ–साथ नाट्य–रूपान्तरण भी तीव्रता से, इतनी अधिक मात्रा में और अपनी अर्थवत्ता प्रामाणिक करता हुआ सामने आया कि उसकी भी पृथक संज्ञा बन गई। उसके स्वरूप, वैशिष्ट्य, वैविध्य, स्वतन्त्रता और सतर्कता पर शिल्प और रूपान्तरण की प्रक्रिया पर गम्भीर बहस उठने लगी।'

स्वातन्त्र्योत्तर रंगकर्म की तीव्रगति प्रयोगशीलता और उत्साह ने नवीन कृतियों, नवीन सम्भावनाओं की तलाश की ओर विभिन्न देश–विदेश की कृतियों के नाट्य–रूपान्तरण पर लोगों का ध्यान केन्द्रित हुआ। बँगला, मराठी, गुजराती, कन्नड़ आदि भारतीय भाषाओं के साथ–साथ फ्रेंच, जर्मन, अँग्रेजी, रूसी आदि भाषा की श्रेष्ठतम नाट्य–कृतियों के अनुवाद और रूपान्तरण ने भारतीय रंगमंच को प्रभावित किया। नाट्य रूपान्तरण की विशिष्टता इस बात से सिद्ध होती है कि, 'अच्छे साहित्य को जनता तक पहुँचाने के लिए कल्पनाशील नाट्य कर्मियों और नाट्य मंडलियों ने कविता, कहानी, उपन्यास आदि के नाट्य–रूपान्तरों का सहारा लिया है। प्रेमचन्द, यशपाल, श्रीकांत की कहानियाँ, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, भवानी प्रसाद मिश्र आदि कवियों की कविताओं के नाट्य रूपान्तरण और पाठ बड़ी सफलता से किए गए हैं। मन्नू भंडारी के 'महाभोज' का नाट्य रूपान्तर बेहद जनप्रिय हुआ। नाट्य रूपान्तर की इस कला से देश–विदेश के किसी भी रचनाकार की कृतियों को दर्शकों तक पहुँचाया जा सकता है और इस टेकनीक से हम श्रेष्ठ साहित्य के प्रति संस्कारवान दर्शक भी तैयार कर सकते हैं।'

साधारण रूप से हर साहित्यिक विधा का अपना निश्चित स्वरूप, शिल्प, विशिष्ट सौन्दर्य और शर्तें होती हैं। अनेक भेद होने पर भी इन विधाओं के कहीं–न–कहीं सम्बन्ध सूत्र परस्पर एक–दूसरे से जुड़ते ही हैं। काव्य को नाटक, कहानी को नाटक और उपन्यास को नाटक के रूप में रूपान्तरित कर सकते हैं। इस पर गिरीश रस्तोगी का कथन बिल्कुल उचित लगता है कि, 'आज का समय विधाओं और कलाओं के अन्तरसम्बन्धों के बिल्कुल घुल–मिल जाने का है। रंगमंच से विधाओं और कलाओं का इतना अधिक अन्तःसंश्लेषण इस समय हुआ ही है–संचार माध्यमों और फिल्म मीडिया से इतना अधिक रचनात्मक सम्बन्ध कहानी, उपन्यास और काव्य का बना हुआ है कि विधाओं और माध्यमों, साहित्य और कलाओं के सूक्ष्म और जटिल रिश्ते और उससे होने वाले सृजन–पुनःसृजन को लेकर अनेक सवाल उठते हैं– उठे हुए हैं और कोई निर्णयात्मक उत्तर की स्थिति सम्भव न हो सकी है, क्योंकि चुनौती, प्रयोग की सम्भावनाएँ कभी समाप्त नहीं होती और सृजन की प्रक्रिया का कोई गणित या व्याकरण नहीं होता।'

हिन्दी रंगमंच के आरम्भिक दौर में जहाँ काव्य–पाठ, कहानी के नाट्य–पाठ को महत्त्व दिया गया, वहीं रंगान्दोलन के तीव्र दौर में मुख्यतः कहानी और उपन्यासों को नाट्य रूपान्तरण ने हिन्दी रंगमंच को नई दिशा प्रदान की। मूल कृति के रचनाकार– कहानीकार–उपन्यासकार की अपनी प्रतिक्रियाएँ, रचनाकार की भूमिका, बाहरी हस्तक्षेप को लेकर अनेक सवाल उठें। निर्देशक रंगकर्मी, कलाकार की अपनी कल्पना और अपने दृष्टिकोण, निर्देशीय अवधारणा एवं कृतित्त्व के प्रश्न भी खड़े हुए हैं।

कहानी या उपन्यास को रूपान्तरित करने पर मौलिकता को हानि पहुँचती है। नाट्य रूपान्तरण में

पाठकों को दर्शक के रूप में देखना पड़ता है। इस नाट्य रूपान्तरण प्रक्रिया को विश्लेषित करते हुए गिरीश रस्तोगी इस प्रकार लिखती हैं कि, 'सवाल किसी भी रचना को एक नई सृष्टि के रूप में लाने का है, केवल नाटक बना देने का नहीं। कथाकार के कथ्य के मूल संवेदना को निश्चित रूप से आरम्भ से अन्त तक रूपान्तरण करते समय सुरक्षित रखना है। कोई जरूरी नहीं की उस कृति को ज्यों–का–त्यों अन्त तक लेकर चले– हमारे सामने जटिलताएँ, चुनौतियाँ रंगमंच की है। रंगमंच की निरन्तरता, शर्ते, क्रिया–तत्त्व और सम्प्रेषण को ध्यान में रखते हुए अगर कुछ या कोई दृश्य या स्थल छोड़ना पड़ता है, तो अनिवार्य तौर पर कहीं कुछ जोड़ना पड़ता है चाहे संकेत, चाहे व्यंजनाएँ अथवा शब्द, वाक्य या दृश्य भी तो वह उस रचना को नष्ट करने के लिए नहीं– उसकी जीवन्त शक्ति को ऊर्जा देने के लिए।'

वर्तमान की हिन्दी नाट्य विधाओं में रूपान्तरण बड़ी सशक्त विधा के रूप में पहुँचता है। स्थूल रूप में इस नाट्य रूपान्तरण को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं जैसे उपन्यास का नाट्य रूपान्तरण और कहानी का नाट्य रूपान्तरण। इस विधा में जो कुछ भी परिवर्तन देखा जाता है उसको शैली के अनुसार ही रखा गया है। इस विधा के अन्तर्गत जन्मी सम्भावनाओं पर दृष्टि लगाने से ही इसकी महत्त्वपूर्णता हमें मालूम पड़ता है। 'हिन्दी नाटक का सातवाँ–आठवाँ दशक प्रयोगधर्मी नाट्य–परम्परा की दृष्टि से पूरे हिन्दी नाटक के विकास में एक नया अध्याय जोड़ता है।'

इस प्रकार रूपान्तरण की प्रक्रिया आगे बढ़ रही है। कुछ लोग इसकी आलोचना भी करते हैं। लेकिन नाट्य–रूपान्तरण को हम नकार नहीं सकते हैं। अगर यह मान भी लिया जाए कि नाट्यरूपान्तरण मौलिक रचना नहीं होतीतो साथ ही वह इतनी गौण वस्तु भी नहीं होती। नाट्यरूपान्तरण की भी अपनी शर्तें होती हैं और इन शर्तों को रूपान्तरकार समझता भी है और निभाता भी है। इन सबके द्वारा साहित्य को अप्रत्याशित ख्याति मिली है। महान साहित्य हर सन्दर्भ में संदर्भित होता है। अतः साहित्य के प्रसार की परम आवश्यकता होती है और नाट्य रूपान्तरण इसी प्रसार के कार्य को बखूबी निभा रहा है। अगर साहित्य मंच द्वारा या दूसरे माध्यमों द्वारा लोगों तक पहुँचता है तो साहित्य सार्थक होता है। यही आधुनिक साहित्यिक विधाओं के नाट्य रूपान्तरण के माध्यम से हो रहा है।

सन्दर्भ

1. हिन्दी काव्य–नाटकों में नाटकीयता का स्वरूप–डॉ. ज्ञान सिंह मान, पृष्ठ–55
2. दर्शन प्रदर्शन–देवेन्द्र राज अंकुर, पृष्ठ–88
3. प्रसाद के नाटक और रंगमंच–सुषमा पाल मल्होत्रा, पृष्ठ–7
4. अनुवाद विज्ञान–भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ–28
5. रामलीला परम्परा और शैलियाँ–इन्दुजा अवस्थी, पृष्ठ–23
6. रामलीला परम्परा और शैलियाँ–इन्दुजा अवस्थी, पृष्ठ–23
7. नाटक तथा रंग परिकल्पना–डॉ. गिरीश रस्तोगी, पृष्ठ–31
8. नाटक तथा रंग परिकल्पना–डॉ. गिरीश रस्तोगी, पृष्ठ–30–31
9. हिन्दी साहित्य का इतिहास– सं.–डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ–751
10. नाटक तथा रंग परिकल्पना–डॉ. गिरीश रस्तोगी, पृष्ठ–31
11. नाटक तथा रंग परिकल्पना–डॉ. गिरीश रस्तोगी, पृष्ठ–33
12. हिन्दी साहित्य का इतिहास– सं.–डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ–751

जायसी की रचनाधर्मिता और भारतीय संस्कृति

डॉ. संजीव सिंह
जे.बी.एम. डिग्री कालेज
सिकन्दरपुर, शाहजहाँपुर

जायसी ने पदमावत के द्वारा अपनी रचनाधर्मिता में भारतीय सांस्कृतिक गरिमा को गहराई के साथ भेदभाव रहित रूप में प्रस्तुत किया। ''जायसी ने भारतीय संस्कृति और भारतीय दर्शनों के मूलभूत सिद्धांतों से ओतप्रोत करके अपने संपूर्ण काव्य को ऐसा रमणीय रूप प्रदान किया है जिसके फलस्वरूप इस काव्य में सांप्रदायिकता की गंध तक नहीं आती। [2] जायसी के संदर्भ में एक स्मरणीय तथ्य यह भी है कि, एक मुसलमान होने के बावजूद भी जायसी हिंदू धर्म और भारतीय संस्कृति से पूर्ण रूपेण परिचित थे। और इसी जानकारी को आधार स्वरूप ग्रहण कर उन्होंने रचनाधर्मिता के रूप में प्रयुक्त करके जायसी ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि एवं समझ का परिचय दिया है। जायसी की रचनाधर्मिता में हमें किसी भी प्रकार का अलगाववाद दिखाई नहीं देता। वहाँ पर सामंजस्यवाद की गंभीरता हर ओर दिखाई देती है। मुरली मनोहर प्रसाद सिंह जी ने लिखा है कि ''मलिक मुहम्मद जायसी की रचना में हमें हिंदू-मुस्लिम कल्चर का संगम अच्छी तरह दिखाई देता है।" [3] तत्कालीन समय की यदि बात की जाये तो समाज हिंदू और मुस्लिम धर्मो में बटा हुआ था। जिनके बीच निरन्तर कट्टरता पनप रही थी। उसी समय जायसी ने अपनी रचनात्मकता के द्वारा अथाह मुहब्बत का सन्देश दिया। प्रेम की भावना सनत् सनातन से चलती आई है। दो मुहब्बत करने वालों को अलग कर देने या संयोगवश अलग हो जाने से उनके प्रेम को समाप्त नहीं किया जा सकता। मनुष्य को जंजीरों में जकड़ा या बाँधा जा सकता है पर उसकी आत्मा को जकड़ा नहीं जा सकता। प्रेम ने धर्म संप्रदाय और क्षेत्रवाद की दीवारों को सदैव ही नेस्तनावूद किया है। जायसी इसी गंभीर प्रेम के अमर गायक हैं।

प्रस्तुत शोध पत्र के उद्देश्य इस प्रकार है:-

i. वर्तमान सामाजिक परिवेश में भारतीय संस्कृति के आलोक में जायसी की विशिष्टता को दर्शाना।
ii. जायसी की रचनाधर्मिता के गंभीर स्वरूप को स्पष्ट करना।
iii. जायसी की रचनाधर्मिता में भारतीय संस्कृति की गहराई को रेखांकित करना।
iv. भारतीय संस्कृति के महत्व का प्रतिपादन करना।

इस शोध पत्र में आधारभूत रूप में जायसी के पदमावत पर विभिन्न विद्वानों के ग्रंथों का अवलोकन करते हुए जायसी की रचनाधर्मिता की आधुनिक स्वरूप में व्याप्ति एवं प्रासंगिकता के रूप में पड़ताल की गई है। इस शोध पत्र का प्रमुख उद्देश्य और प्रासंगिकता जायसी की रचनाधर्मिता को भारतीय संस्कृति के आइने में देखने में सन्निहित है।

भारतीय संस्कृति की प्राचीनता किसी भी स्तर पर छिपी नहीं है। इस संस्कृति में दया उच्च्व ज्ञान सद्भाव और प्रेम आदि तत्वों का इस प्रकार से समायोजन है कि, यदि मनुष्य अपने सांस्कृतिक स्वरूप को समझ ले तो बसुधैव कुटुंबकम् की भावना से वह स्वत: ही ओतप्रोत हो जायेगा और उसमें उन जीवन मूल्यों का विकास होगा जिनसे समूची मानव जाति के उत्थान का मार्ग प्रशस्त होगा। भारतीय संस्कृति के केंद्रीय मूलभूत प्राणतत्वों में केंद्रीय तत्व प्रेम का है यह प्रेम एक ऐसी शक्ति है जो, सांसारिक गति को अनवरत् रूप से गतिमान करती रहती है। शरीर के तात्विक संयोजन से वीर्य का निर्माण और नर नारी के शारीरिक संबंधों से मानव शिशु (नर या नारी) का जन्म फिर क्रमिक वृद्धि तत्पश्चात यौवन की उमंगों में प्रेमाकर्षण का आनंद और वृद्धावस्था का उत्तरोत्तर प्रतिफलन यही जीवन चक्र का क्रम है। प्रेम के वशीभूत होकर संसार की सारी शक्तियाँ अपना कार्य करती हैं। प्रेम अथवा समर्पण विहीन होकर कोई भी कार्य किसी भी प्रकार की उत्कृष्ठता या परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होता। प्रेम का अर्थ है समर्पण। बिना समर्पित हुए प्रेम का समन्वित स्वरूप सामने आना असंभव है। जायसी ने इसी

रचनाधर्मिता का परिचय देते हुए लिखा है-''मानुस प्रेम भयउ बैकुँठी नाहि त काह छार भरि मूठी''[4] जायसी ने अपने पदमावत में सांस्कृतिक दिग्दर्शन में प्रेमी की प्रेमिका के प्राप्त करने के लिये व्याकुलता प्रयत्नशीलता को भली-भांति चित्रित किया है और ध्यान रहे कि यह बेचैनी या बेकरारी किसी एक पक्ष विशेष की नहीं बल्कि दोनों पक्षों में समान रूप से परिलक्षित होती है। जिसे पदमावती में भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में साहित्यिक अनुसंधान की व्याख्यात्मक प्रणाली का प्रयोग किया गया है। इसके अंतर्गत किसी विषय या साहित्यिक रचना का विवेचन विश्लेषण किसी विशिष्ट साहित्यिक सिद्धांत, संस्कृति या रचनाधर्मिता के प्ररिप्रेक्ष्य में किया जाता है। सूफी सिद्धांत भारतीय संस्कृति की अविरल परंपरा में इस प्रकार अनुस्यूत हो गया जिसे अब भारतीय संस्कृति से अलगाववादी दृष्टिकोंण से न तो देखा जा सकता है और न ही समझा जा सकता है। उसका गाम्भीर्य दोनों के समन्वय में निहित है। सामंजस्य की लंबी परंपरा की भावभूमि के रूप में भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल पक्ष जायसी ने अपनी रचनात्मकता में उकेरा है। प्रस्तुत शोध पत्र में सांस्कृतिक स्वरूप और जायसी की रचनाधर्मिता का आकलन करते हुए भारतीय संस्कृति के विविध तात्विक पक्षों पर दृष्टिपात किया गया है। विशेषतः जायसी की रचनाधर्मिता का अवलोकन करते हुए उसकी विशिष्टता को शब्द दिये गये हैं।

जायसी का पदमावत भारतीय संस्कृति का सजीव दस्तावेज है। जिसमें भारतीय संस्कृति के विभिन्न उच्चादर्शों का समायोजन है। पदमावत में भारतीय समाज का लोक-व्यवहार, लोकोत्सव, सांस्कृतिक स्वरूप और उसके सुंदर वातावरण को चित्रित किया गया है। पदमावत के अंतर्गत जायसी ने अपनी रचनाधर्मिता की माला में जो सामाजिक रीति-रिवाजों, संस्कारों परंपराओं के जो शब्द रूपी पुष्प चित्र प्रस्तुत किये हैं वह काफी सुंदर और चित्ताकर्षक हैं। जायसी ने नामकरण आदि विभिन्न संस्कारों को जिस दक्षता के साथ सामने रखा है वह काबिले तारीफ है। पदमावत् की सृजनात्मक भावभूमि पर जायसी की कलात्मक रचनाधर्मिता का जो नमूना हमें दिखाई देता है वह गजब का है इस संबंध में पदमावती के वियोग की बेकरारी दर्शनीय है-

''पदमावति तेहि जोग संजोगा। परीपेंम जस गहैं वियोगा।।
नींद न परै रैनि जो आवा। सेज के वाँछ जानु कोई लावा।।
दहै चाँद और चंदन चीरू। दगध करै तन विरह गंभीरू।।[5]

जायसी ने नामकरण संस्कार का बड़ा सुंदर वर्णन किया है-

''भा विद्वान पंडित सब आए। काढ़ि पुरान जनम अरथाए।।
कन्या राशि उदौ जग किया। पदमावती नाऊँ जिसु दिया।।[6]

यह सच है कि ''सूफी मतवाद और उसके प्रतिनिधि सूफियों ने भारत में भावात्मक एकता के साथ-साथ मिश्रित सांस्कृतिक परंपराओं का भी सूत्रपात किया।''[7] किंतु जायसी ने पदमावत के अंतर्गत उन अटूट परंपराओं और मान्यताओं एवं तत्वों को भी उठाया है जो किसी धर्म और संस्कृति में नहीं मात्र भारतीय संस्कृति की आत्मा में बसते हैं। और सभी धर्मो में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। यह तत्व हमारी भारतीय संस्कृति के महत्व और विशिष्टता के परिचायक हैं। ऐसी ही परंपराओं और मान्यताओं में भारतीय समाज में विवाह की परंपरा है। जिसे सभी धर्मो में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है और जन्म-जन्म का बंधन माना जाता है यथा-

''अब सो मिलन कत सखी सहेलिनि परा विछोवा टूटि।
तैसी गाँठि पिय जोरव जनम न होइहि छूटि।।''[8]

''सूफी कवियों विशेषतः जायसी के संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है कि, हिंदू और मुसलमान आमने सामने करके अजनबीपन मिटानें वालों में हमें इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा।''[9] जायसी ने अपनी रचनाधर्मिता के अंतर्गत समय की मांग को देखते हुए भारतीय संस्कृति की एकता की भावना को स्थापित करने का महानीय प्रयास किया। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पदमावत में रची बसी भारतीय संस्कृति के शब्द चित्र हैं। भारतीय संस्कृति और लोकजीवन का मार्मिक चित्रण पदमावत की भावभूमि है। जायसी की रचनाधर्मिता का पूरा उन्मुखीकरण अपनी रचनात्मकता को भारतीय परंपरा एवं सांस्कृतिक स्वरूप में ढालना रहा जिसमें उन्होंने 'प्रेम' तत्व को एक औजार के रूप में इस्तेमाल किया। रचना के लिए 'अवधी' का प्रयोग किया तथा अपभ्रंश से दोहा-चौपाई परंपरा को ग्रहीत किया।

इस प्रकार जायसी ने उदारवादी दृष्टिकोंण रखते हुए भारतीय संस्कृति का अपनी रचनाधर्मिता के द्वारा मुक्त कंठ से गायन किया है जिसे किसी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संसार में जब तक प्रेमाकर्षण है

तब तक जायसी की रचनाधर्मिता अजर और अमर रहेगी इसमें कोई शक नहीं है।

संदर्भ

1. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास : डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद 2005 पृ0सं0–26।
2. पदमावत में काव्य संस्कृति और दर्शन : डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा 1973 प्राक्कथन से।
3. हिंदी उर्दू साझा संस्कृति : मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (सं) नेशनल बुक ट्रस्ट दिल्ली 2010 पृ0सं0–34।
4. जायसी पदमावत (मंडप गमन खंड) लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद 2010 पृ0सं0–159।
5. जायसी पदमावत (पदमावती वियोग खंड) पृ0सं0–161।
6. वही (जन्म खंड) पृ0सं0–52।
7. इतिहास : विवेका नंद झा (सं0) जनवरी दिसंबर 1993 पृ0सं0–199।
8. वही (रत्नसेन पदमावती विवाह खंड) पृ0स0ं–267।
9. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुल्क प्रकाशक नागरी प्राचरिणी सभी वराणसी 1997 (32वाँ संस्करण) पृ0सं0–26।

मोहन राकेश के नाटकों की आधुनिकता और प्रासंगिकता

डॉ. प्रीति अग्रवाल

नाटक आजकल जीवन का अभिन्न अंग बन चुका है। 'नाटक' शब्द से कोई अपरिचित नहीं है और उसने साहित्य जगत में अपनी विशिष्ट पहचान भी बना ली है। धर्मवीर भारती के अन्धायुग ने हिन्दी नाटक को जिस नवीन दिशा की ओर मोड़ा था उसे आगे बढ़ाने का कार्य मोहन राकेश ने किया। यही कारण है कि हिन्दी नाटक साहित्य में मोहन राकेश का स्थान महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट है। मोहन राकेश ने अपने नाटकों में मानवीयता और यथार्थ के प्रति आस्था का स्वर मुखरित किया है। मोहन राकेश ने निम्न नाटकों का सृजन किया है–

1. आषाढ़ का एक दिन – 1958 ई.
2. आधे अधूरे – 1961 ई.
3. लहरों के राजहंस – 1963 ई.
4. पैर तले की जमीन – 1975 ई.।

मोहन राकेश ने अपने नाटकों में इतिहास पुराण से तथ्य ग्रहण करते हुए समकालीन जिन्दगी के विविध रूपों को प्रस्तुत किया है। इनके लिए इतिहास, पुराण महज एक माध्यम है समकालीन सामाजिक विसंगतियों को प्रकट करने का।

मोहन राकेश ने युगीन समस्या को आधुनिकता के विभिन्न पहलुओं को कथावस्तु पात्र एवं समस्याओं की पृष्ठभूमि के आधार पर नवीन रूप में विविध स्तर पर नाटक में सम्प्रेषित किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में मोहन राकेश ने कलाकार की सृजनात्मक प्रतिभा, उसके परिवेश एवं प्रेम–संघर्ष आदि को आधार रूप में लेकर मानव की संवेदना को आधुनिक परिवेश के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। आज का मानव जीवन आधुनिकीकरण एवं नगरीकरण से बहुत प्रभावित है। इसी कारण जीवन में अशान्ति, टूटन, तनाव एवं निराशा भरी हुई है।

'आषाढ़ का एक दिन' तीन अंकों में विभाजित नाटक है। इस नाटक में कालिदास की कथा वर्णित है। कालिदास इस नाटक का नायक है और कालिदास और मल्लिका एक–दूसरे से प्रेम में अनुरुक्त हैं। मल्लिका की माँ अम्बिका इस प्रेम के विरुद्ध हैं। लेकिन मल्लिका माँ के वचनों की तनिक चिन्ता नहीं करती है। जब उज्जयिनी का राजा कालिदास को राजकवि का आसन देना चाहता है तो मल्लिका ही उसे जाने के लिए मनाती है। उज्जियिनी जाने के बाद कालिदास न केवल राजकवि का पद प्राप्त करते हैं बल्कि उनका विवाह गुप्त देश की राजकुमारी प्रियंगुमंजरी से कर दिया जाता है। नाटक के अन्त में लेखक ने दिखाया है कि कालिदास ने शासन कार्य को त्यागकर संन्यासी जीवन बिताने के लिए कश्मीर छोड़ दिया है।

मल्लिका कालिदास की प्रेमिका होती है। लेकिन वह कालिदास को रोकने की बजाय उससे उज्जयिनी जाने का अनुरोध करती है। वह कालिदास से कहती है–''मैं जानती हूँ तुम्हारे चले जाने से मेरे अन्तर में एक रिक्तता छा लेगी। बाहर भी बहुत सम्भवतः सूना प्रतीत होगा। फिर भी मैं अपने साथ बहुत छल नहीं कर रही....मैं यह हृदय से कहती हूँ। तुम्हें जाना चाहिए।''[1] आज भी आधुनिक जीवन में मल्लिका जैसी कई नारियाँ हैं जो अपने प्रेमी और पति की उन्नति के लिए दूर भेजने में हिचकती नहीं है। मोहन राकेश के अधिकांश पात्र 'स्व' की तलाश करने वाले हैं पर हर खोज में वे असफल ही निकलते हैं। कालिदास भी अस्तित्त्व की तलाश में इधर–उधर भटकता है। उज्जयिनी का राजकीय परिवेश उसके कवि अस्तित्त्व के लिए विनाशकारी ही सिद्ध होता है। मोहन राकेश का विचार था–''एक साहित्यकार की मूल समस्या है साहित्यकार के रूप में अपना व्यक्तित्त्व बनाए रखने की। साहित्यकार की आर्थिक

स्वतन्त्रता और विचारों एवं मान्यताओं की दृष्टि से उसकी स्वतन्त्रता एक अहम् सवाल है। अगर यह स्वतन्त्रता नहीं तो लेखक का व्यक्तित्त्व कुंठित होता है, क्योंकि समझौते अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्त्व को तोड़ते हैं।''[2]

कालिदास उज्जयिनी जाकर बड़ा कवि बनता है, प्रियंगुमंजरी से विवाह भी करता है, सारी सुख–सुविधाएँ भी प्राप्त करता है, लेकिन कालिदास का मन अस्वस्थ ही रहता है। कोई भी साहित्यकार सरकारी चोले को पहनकर स्वतन्त्र अभिव्यक्ति नहीं दे सकता। कालिदास सत्ता और सम्मान के बीच अकेलापन ही महसूस करता है–''किसी और के लिए वह वातावरण और जमीन स्वाभाविक हो सकता था, मेरे लिए नहीं था....जिस कल की मुझे प्रतीक्षा थी वह कल कभी नहीं आया और मैं धीरे–धीरे खंडित होता गया और एक दिन मैंने पाया कि मैं सर्वथा टूट गया हूँ।''[3] आज के आधुनिक जीवन की एक अन्य त्रासदी यह भी है कि पति–पत्नी एक ही छत के नीचे अलग–अलग व्यक्ति बनकर रहते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास और प्रियंगुमंजरी की भी अपनी–अपनी मानसिकता है। अपनी–अपनी रुचि है प्रियंगुमंजरी कालिदास को राजनीति की ओर आकर्षित करना चाहती है जबकि कालिदास लिखना चाहता है लड़ना नहीं। डॉ. रमेश गौतम का कहना है–''कालिदास के माध्यम से सरकारी सम्मान प्राप्त होने पर सुविधाभोगी कलाकार या साहित्यकार की स्वातन्त्र्य–चेतना के कुंठित होने को नाटककार ने आधुनिक सन्दर्भों में आँका है। वह आधुनिक साहित्यकार की नियति का प्रतीक बन गया है।''[4]

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक आज की विसंगतियों, संवेदनाओं और तनावों से सम्बद्ध है। स्त्री–पुरुष रिश्तों की विडम्बना, प्रेम–प्रसंग की असफलता, तनाव और अन्तर्विरोधों को आधुनिकता की दृष्टि से रेखांकित किया है। स्त्री पुरुष को एक–दूसरे के साथ जोड़ने की क्रिया विवाह है। विवाह पारिवारिक जीवन का मूल आधार भी है। मोहन राकेश ने इसी दाम्पत्यगत जीवन के खोखलेपन को भी उजागर किया है। एक ओर कालिदास अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए विवाह करता है तो वही मल्लिका को विवश होकर विवाह के लिए बाध्य होना पड़ता है। मल्लिका में भी वर्तमान नारी का रूप है जो अपनी विवशता में भी स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व की घोषणा करती है–''मल्लिका का जीवन उसकी अपनी सम्पत्ति है। वह उसे नष्ट करना चाहती है तो किसी को उस पर आलोचना करने का क्या अधिकार है।''[5] कालिदास अपने परिवेश से उखड़ जाने के कारण जो सन्त्रास, तनाव, अकेलापन, शुष्कता, शून्यता और सम्बन्धहीनता के वातावरण में जीता है यह वास्तव में आधुनिक मानव की नियति है।

'लहरों के राजहंस' में आधुनिक मानव के अस्तित्त्व संकट की समस्या, आन्तरिक संघर्ष, स्त्री–पुरुष के दाम्पत्य यौन–सम्बन्धों का निरूपण किया गया है। इस नाटक का पात्र नन्द न तो सुन्दरी को छोड़ सकता है और न ही बुद्ध के आकर्षण से मुक्त हो पाता है। वह दोनों के बारे में सोचते हुए उलझकर रह जाता है। इस नाटक की नायिका रूपगर्विता सुन्दरी एकांकिक भोग और समर्पण में ही अपने 'स्व' की सार्थकता समझती है। वह अपने सौन्दर्य और आकर्षण से पति को बाँधे रखना चाहती है। नन्द को एक तरफ बुद्ध का गौरव खींच रहा है वही दूसरी तरफ सुन्दरी का अनुराग। नन्द अस्तित्त्व की तलाश में सन्त्रस्त है। तथागत के पास पहुँचने पर वह सुन्दरी से मिलने को बेचैन हो उठता है। यह उसकी बेचैनी ही उसकी अस्तित्त्वहीनता है। नन्द की अकुलाहट आधुनिक मानव की अकुलाहट ही है–''उनके पास था, तो मन यहाँ के लिए व्याकुल था। अब तुम्हारे सामने हूँ तो मन कहीं और के लिए व्याकुल है। क्योंकि यह हो या वह, सब जगह में अपने को एक–सा अधूरा समझता हूँ।''[6] नाटक की कथावस्तु में सांसारिक सुख और आध्यात्मिक शान्ति की तलाश के द्वन्द्व में उलझे व्यक्ति का चित्रण है। नन्द यहाँ आधुनिक मानव का प्रतीक है। निर्णय–अनिर्णय, चुनाव, इनकार आदि मानसिक संघर्षों में उसका दम घुटता है। नन्द का अर्न्द्वन्द्व तनाव, अकेलापन, घुटन, अस्थिरता, व्याकुलता, आधुनिक व्यक्ति की तरह ही है। आज मनुष्य को सांसारिक सुखों से भी मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं हो पा रही है। वह मानसिक शान्ति की खोज में भटकता भी है, पर उसे प्राप्त नहीं कर पाता। नाटक में नन्द की भी यही स्थिति है। 'लहरों के राजहंस' की सुन्दरी भी आधुनिक स्त्री के रूप में ही नजर आती है। वह किसी से दया या सहानुभूति नहीं चाहती। वह अन्दर से भयभीत होकर भी बाहर से स्वयं को व्यवस्थित ही दिखाती है। वह नन्द के आगे–पीछे नहीं घूमती बल्कि नन्द ही उसके नाज–नखरे उठाता है। वह पुरुष द्वारा शोषित न होकर पुरुष के शोषक रूप में ही नजर आती है। सुन्दरी आधुनिक नारी का प्रतिरूप ही नजर आती है।

'आधे–अधूरे' मोहन राकेश का बहुचर्चित नाटक है। मध्यवर्गीय जीवन में आने वाली शुष्क और विनाशकारी रिक्तता को उजागर करने वाला यह नाटक मनुष्य के खोखलेपन को प्रस्तुत करता है। आज के दाम्पत्य जीवन में आर्थिक विषमता ने किस प्रकार विषैला वातावरण उत्पन्न कर दिया है, साथ ही मानसिक यन्त्रणा से त्रस्त मध्यवर्गीय स्त्री–पुरुष के जीवन को नाटक सशक्तता से व्यक्त करता है। नाटककार ने यही दिखाने का प्रयत्न किया है कि आज के समाज में हर व्यक्ति अपने आधा–अधूरा है। इस नाटक में आज के कठोर यथार्थ की अभिव्यक्ति है। नाटक का नायक महेन्द्रनाथ जीविका के लिए पत्नी सावित्री पर निर्भर होने के कारण घर में उपेक्षित है। बड़ी लड़की बिन्नी माँ के प्रेमी मनोज के साथ विवाह कर लेती है किन्तु उसका वैवाहिक जीवन ठीक नहीं है। अशोक बेरोजगारी के कारण कटु मनोवृत्ति को प्रकट करता है। छोटी लड़की जिद्दी और उद्दंड है। वह यौन–सम्बन्धों से सम्बन्धित पुस्तकें पढ़ने तथा पड़ोस की कम उम्र की सुरेखा के साथ यौन सम्बन्धों को लेकर बातें करने में दिलचस्पी रखती है। नाटककार ने दिखाया है जिन्दगी में बहुत कुछ चाहने वाले की तृप्ति अधूरी ही रहती है।

सावित्री भी पूर्णता और तृप्ति की तलाश में अनेक व्यक्तियों से रिश्ता जोड़ती है, लेकिन अतृप्त और अधूरी ही बनी रहती है। जुनेजा सावित्री से कहता है–''तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है–कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाता, इसलिए जिस किसी के साथ भी जिन्दगी शुरू करती तुम हमेशा इतनी ही खाली, इतनी ही बेचैन रहती।''[7] अशोक आज भी भटकी हुई नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है जो कॉलेज में फेल हो जाने पर अपने रास्ते से भटक जाता है। अभिनेत्रियों की तस्वीरें काटने में ही अपना समय व्यतीत करता है।

वर्तमान जीवन में मानवीय रिश्तों के मूल में सबसे महत्त्वपूर्ण धन ही है। सावित्री भी जीवन में धन को ही महत्त्व देती है। उसके लिए धन आवश्यक भी है, क्योंकि परिवार की समस्त जिम्मेदारियाँ उसी पर हैं। आज की आधुनिक स्त्री की तरह वह घर और बाहर की पूरी जिम्मेदारियाँ निभाती हुई झुँझलाहट से भरी रहती है–''यहाँ पर सब लोग समझते क्या हैं मुझे? एक मशीन जो सबके लिए आटा पीसकर रात को दिन और दिन को रात करती रहती है। मगर किसी के मन में जरा भी ख्याल नहीं है इस चीज के लिए कि कैसे मैं।''[8]

वर्तमान काल में स्त्री–पुरुष दोनों विशेषतः विभिन्न व्यक्तित्त्व रखना चाहते हैं। जबकि पुराने जमाने में ऐसा नहीं था, स्त्री पति के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित थी। आज शिक्षा और आर्थिक स्वतन्त्रता के कारण स्त्री की मानसिक स्थिति में परिवर्तन आया है। आज समाज में तलाक एक आम बात हो गई है। इसका मुख्य कारण आपसी समझौते का अभाव है। महेन्द्रनाथ और सावित्री के दाम्पत्य जीवन की शिथिलता का कारण भी आपसी समझौते का अभाव है। सावित्री अपनी कामना के अनुकूल पुरुष की खोज में रत है और महेन्द्रनाथ के प्रति उसकी अरुचि आक्रोश का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। वह कहती है–''तो ठीक है आज से मैं अपनी जिन्दगी को देखूँगी...तुम लोग अपनी–अपनी जिन्दगी खुद देख लेना।''[9] आज आर्थिक विपन्नता इस भौतिकतावादी युग में व्यक्ति को इतना स्वार्थी बना देती है कि उसके लिए सामाजिक सम्बन्धों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इस नाटक में सिंघानिया एक ऐसा धूर्त और कामी व्यक्ति है जो सावित्री की महत्त्वाकांक्षाओं और आर्थिक कमजोरियों का फायदा उठाना चाहता है।

'पैर तले की जमीन' मोहन राकेश का अन्तिम अधूरा नाटक है। इस नाटक को उनके प्रिय मित्र कमलेश्वर ने पूर्ण किया है। इस नाटक में सम्बन्धहीनता, नफरत, वहम्, अनैतिकता आदि मनःस्थितियों को प्रकट किया गया है। मोहन राकेश ने इस नाटक में इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि समाज में सुसंस्कृत कहलाने वाला व्यक्ति भी पैर तले की जमीन खिसकने पर दरिन्दा बन जाता है। नगर से दूर पर्यटक कश्मीर की दो छोटी नदियों के बीच के द्वीप में स्थित 'टूरिस्ट क्लब' में फँस जाते हैं। इस क्लब में अनेक लोग मनोरंजन के लिए आते और जाते हैं। अचानक बाढ़ के आ जाने से क्लब से बाहर आने के पुल में दरारें पड़ने लगती हैं जिसके कारण क्लब में अब्दुल्ला, अयूब, सलमा, नियामत, पंडित, झुनझुनवाला आदि पर्यटक फँस जाते हैं। उन लोगों का क्लब से बाहर निकलना मुश्किल हो जाता है। इस पुल के अलावा बाहर निकलने का कोई अन्य रास्ता भी नहीं होता। पानी बढ़ते–बढ़ते क्लब के अन्दर भी आने लगता है। शराब और नृत्य आज के जीवन के अनिवार्य घटक बन चुके हैं। पैर तले की जमीन के पात्र भी 'टूरिस्ट क्लब ऑफ इंडिया' में पहुँचकर शराब और नृत्य के सहारे अपने खालीपन और बिखराव

को भूलने का प्रयास करते हैं। 'पैर तले की जमीन' के स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की त्रासदी यह है कि उनके बीच किसी तीसरे आदमी का प्रवेश होता है जिससे सारा सम्बन्ध शिथिल हो जाता है। अयूब और सलमा का सम्बन्ध इसलिए विघटित हो जाता है कि सलमा का एक डॉक्टर से पूर्व सम्बन्ध था। अयूब अपने को अस्तित्त्वहीन और जिन्दगी को निरर्थक महसूस करता है। वर्तमान जीवन में पति–पत्नी का सम्बन्ध जटिल ही नहीं जड़ भी बनता जा रहा है। अयूब भी कहता है–''जो जिन्दगी मैं जी रहा हूँ वह मेरी अपनी जिन्दगी नहीं है। मैं चाहे जितने साल उसे ढोता रहूँ फिर भी कभी उसे अपना नहीं कह सकूँगा।''[10] अयूब और सलमा माँ–बाप बनने के बावजूद अकेलेपन से त्रस्त हैं। आज व्यक्ति अपनी पीड़ा को छिपाता है वह उसे किसी से बाँटना नहीं चाहता। सलमा का कथन बिल्कुल सही है ''जब मुसीबत आती है तो सब अकेले ही होते हैं।''

यौन–मर्यादाओं को तिलांजलि देकर 'खाओ पियो और मौज उड़ाओ' का दर्शन समाज में प्रचलित है। यौन भूख की समस्या तेजी से समाज में उभर रही है। टी.वी. चैनलों और अखबारों में छोटी–छोटी बच्चियों से भी बलात्कार के मामले सामने आते रहते हैं। इस नाटक का पात्र अयूब भी एक छोटी बच्ची को अपनी हवस का शिकार बनाने का प्रयत्न करता है–''दरिया में बह जाने से पहले एक बार...पानी यहाँ तक (गले तक) बढ़ आने से पहले एक बार मैं उसके भोलेपन के साथ...उसकी इनासेन्स के साथ...''।[11] हवस कैसे इनसान को पशु बना देती है। स्वच्छन्द यौनाचार समाज में आम होता जा रहा है। अयूब शादीशुदा होने के बावजूद दूसरी लड़कियों से अवैध सम्बन्ध रखता है। वह कहता है–''मुझे एक औरत चाहिए औरत.. .जो मौत के खतरे के बावजूद ...साथ दे सके।''[12] अयूब आधुनिक व्यक्ति के अस्तित्त्व संकट, यौन–विकृतियों, अविश्वासी, सुख लोलुप, संशयग्रस्त, असन्तुष्ट पति आदि को व्यक्त करने वाला चरित्र है। आज जीवन में पैसा और आडम्बर ही महत्त्वपूर्ण है। इस नाटक का पात्र झुनझुनवाला पैसे के आधार पर ही समाज का महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बना हुआ है। वह अपने सुख के लिए कुछ भी कर सकता है। फिर भी वह बेहद असुरक्षित और निराशाग्रस्त ही रहता है। उसकी शोषण की प्रवृत्ति बचपन से ही रही है। उसी के शब्दों में–''मैं पैदा हुआ तो पहला मन्त्र मेरे कान में फूँका गया था कि दुनिया में बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर ही जी सकती है और बड़े होने के साथ–साथ मैंने जाल बुनने सीखे...सीधे कहें तो सबको अपना व्यापार बनाया। इसका इतना दाम, उसका दाम उतना ''युवतियों के शरीर को भी वह खिलौना मात्र ही समझता है–''मैं आज तक सैकड़ों जवान लड़कियों के साथ सोया हूँ...उनकी मर्जी से नहीं अपनी मर्जी से। अपने दोस्तों के घरों को भी मैंने नहीं छोड़ा। सैकड़ों कत्ल कराए। करोड़ों का माल स्मगल किया लाखों रुपये रिश्वत में दिए, करोड़ों का टैक्स बचाकर काला धन जमा किया...इस देश के भीतर एक और उतना ही अपनी सुविधाओं का देश बनाया।''[13] झुनझुनवाला जैसे भ्रष्ट आदमी वर्तमान जीवन में एक ढूँढ़ने पर हजारों मिल जाते हैं। 'पैरों तले की जमीन' नाटक में वर्तमान पारिवारिक जीवन की विडम्बनाओं, स्त्री–पुरुष सम्बन्धों, तनावों और मानवीय सम्बन्धों के बीच आया हुआ खोखलापन आदि का चित्रण आधुनिक सन्दर्भ के रूप में ही मिलता है। समसामयिक समाज में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की पुरानी मान्यताएँ टूट गई हैं और उसमें एक नया आयाम जुड़ गया है–उन्मुक्त प्रेम। तुलसी का साहित्य अपने युग में आधुनिक था। कबीर के साहित्य में भी आधुनिकता को देखा जा सकता है वैसे ही मोहन राकेश के नाटक भी वर्तमान समय में भी उतने ही आधुनिक और प्रासंगिक हैं। मोहन राकेश के लिए इतिहास माध्यम मात्र है जिसके द्वारा वह वर्तमान के साथ जूझते हैं। मोहन राकेश ने मूल्यों में हुए परिवर्तन, सम्बन्धों के खोखलेपन, जीवन में बढ़ती हुई रिक्तता एवं सम्बन्धों के विघटन को अपने नाटकों में सजीव अभिव्यक्ति दी है।

सन्दर्भ

1. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, नेमिचन्द्र जैन, पृ. 320
2. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, नेमिचन्द्र जैन, पृ. 312
3. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, नेमिचन्द्र जैन, पृ. 314
4. हिन्दी के प्रतीक नाटक, डॉ. रमेश गौतम, पृ. 272
5. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, नेमिचन्द्र जैन, पृ. 206

6. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, नेमिचन्द्र जैन, पृ. 242
7. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, नेमिचन्द्र जैन, पृ. 307
8. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, नेमिचन्द्र जैन, पृ. 326
9. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, नेमिचन्द्र जैन, पृ. 341
10. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, नेमिचन्द्र जैन, पृ. 433
11. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, नेमिचन्द्र जैन, पृ. 402
12. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, नेमिचन्द्र जैन, पृ. 424 ।

हिन्दी फिल्मों पर रंगमंच का प्रभाव : मेलोड्रामा के सन्दर्भ में

भावना
अतिथि प्राध्यापक,
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रारम्भ में संगीतमय रोमानी नाटकों की विधा के तौर पहचाने जाने वाली विधा मेलोड्रामा का उपयोग कालान्तर में मनोरंजन जगत के उस कार्य को सन्दर्भित करने लगा जिसमें कि भावात्मक तीव्रता, अत्युक्ति, सनसनीपन, तीव्र घटना व्यापार, लफ्फाजी पूर्ण अतिरेक (Rhetoric Exaggeration), नैतिक ध्रुवीयता, असंतृप्त खलनायकत्व और बुराई पर अच्छाई की विजय का प्रयोग किया जाता है। मूल रूप से नाटक का यह शब्द बाद में साहित्य और सिनेमा के मूल्यांकन के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। फिल्म अध्ययन में इस पदावली की फिर से वापसी के पीछे सिनेमा में प्रतिनिधान की प्रकृति, वैचारिक मूल्यों और स्त्री सापेक्षता की निर्मिति के सवालों की पूर्व इजारेदारी का बड़ा हाथ है। अव्यवस्थित बुर्जुआ विचारधारा के लिए सब-कुछ उलट-पलटकर रख देने वाली सम्भाव्यता के तौर पर भी मेलोड्रामा को देखा जाता है। हाल ही में पश्चिमी अध्येताओं की मेलोड्रामा में बढ़ती रुचि के पीछे यह कारण देखा गया है कि मेलोड्रामाई फिल्में स्त्री अनुभवों और भावनाओं को अग्रगामिता प्रदान करती हैं।[1] इसके अलावा उत्तर-आधुनिकता के द्वारा उच्च-निम्न कला के विभेदों के मिट जाने के कारण भी मेलोड्रामा की ओर वृहत् रूप से ध्यानाकर्षण हुआ है। मेलोड्रामा की विचारधारा में जटिल और संवेदनशील कार्यों और इनमें निहित सांस्कृतिक विरोधाभासों की उपस्थिति ने भी इनमें रुचि जगाने में महती भूमिका निभाई है। इसके अतिरिक्त, विविध संस्कृतियों की लोकरंजन की तात्त्विक संरचना में मेलोड्रामा की किसी-न-किसी रूप में मौजूदगी ने भी इसे जाँच के लिए उपयुक्त क्षेत्र बनाया है।

आंग्ल-अमरीकी आलोचकों द्वारा मेलोड्रामा और सिनेमा के अन्तर्संबंधों पर खूब बहस हुई है और उनकी समझ ने इस पदावली को सार्वभौमिक श्रेणी प्रदान की है। हालाँकि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारे सामने कैंटोनीज मेलोड्रामा, जापानी मेलोड्रामा, इंडोनेशियाई मेलोड्रामा, भारतीय मेलोड्रामा और चीनी मेलोड्रामा के उदाहरण भी हैं। बहुत से उभयनिष्ठ लक्षणों की साझेदारी के बावजूद उपर्युक्त मेलोड्रामाओं ने अपनी-अपनी निजी संस्कृतियों की अनिवार्यताओं की भाव-भूमि में विकास किया है। निक लेसी ने मेलोड्रामा की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ बताई हैं-

1) कथात्मक ढाँचे के भीतर सत् और असत् के नैतिक ध्रुवों की पहचान करना।
2) त्रासदी (अपवादस्वरूप जहाँ पात्र अपेक्षाकृत सामाजिक रूप से कम प्रतिष्ठित होते हैं) की तुलना में खल शक्तियों का प्रतिकार करना।
3) नाटकीय प्रभावोत्पादन के लिए संगीत का उपयोग करना।
4) विवाद का स्पष्ट समाधान प्रस्तुत करना।
5) अतिरेक तथा अत्युक्ति का प्रयोग करना।
6) कथा-युक्ति के रूप में संयोगों का उपयोग करना।
7) अतिवादी भावुकता का महिमामंडन करना।
8) दृश्य चिह्नों के बजाय प्रतीकात्मक उपयोग करना।

जिस तरह से बहुलतावादी अस्मिताएँ हैं, उसी तरह से मेलोड्रामा के भी अनेक स्थानीय संस्करण मिलते हैं। कहीं वह जापान में काबुकी और कठपुतली नाच बुनराकु से प्रेरित होकर शिम्पा में अपनी जड़ें तलाशता है तो श्रीलंका में भारतीय सम्पर्कों की वजह से नूर्ति शैली के रूप में सामने आता है। भारत में मेलोड्रामा पारसी रंगमंच और लावणी, जात्रा, स्वाँग, नौटंकी लोकनाट्य शैली के सांस्कृतिक प्रदर्शनात्मक सन्दर्भों से परिचालित होता है। भारतीय सन्दर्भों में हम मेलोड्रामा के तत्त्व पारसी रंगमंच की व्यावसायिक नाट्य प्रस्तुतियों और नौटंकी में चिह्नित

कर सकते हैं। संस्कृत नाटकों में भावातिशय नाट्य तथा अद्भुतरस प्रधान सुखान्त नाटक में भी मेलोड्रामा की कतिपय विशेषताएँ मिलती हैं। गौरतलब है कि जहाँ पाश्चात्य मेलोड्रामा में परिवार कथा-परिवेश के रूप में सामने आता है तो वहीं एशियाई मेलोड्रामा में बुनियादी ईकाई के रूप में अभिरुचियों के संकेन्द्रण के तौर पर दिखाई देता है। हिन्दी फिल्मी मेलोड्रामा पश्चिमी स्वरूपों, शास्त्रीय भारतीय रंगमच, लोक-नाट्य तथा कुछ आधुनिक पारसी थिएटर का सृजनात्मक सम्मिश्रण प्रस्तुत करता है।

सिनेमा के मामले में मेलोड्रामा की अवधारणा के बारे में यह दिलचस्प बात है कि किसी भी एशियाई भाषा के पास के इसे अभिव्यक्ति करने के लिए कोई पारम्परिक शब्द नहीं है। आधुनिक एशियाई भाषाओं, सिंहली में भावातिशय नाट्य (अत्यधिक आवेगों वाला नाटक) और भारत में अद्भुत रस प्रधान सुखान्त नाटक की उत्पत्ति ज्यादा पुरानी नहीं है। शास्त्रीय भारत में एक समृद्ध नाट्य साहित्य रहा है जिसमें कुछ को मेलोड्रामा कहा सकता है। भारतीय नाटककारों का नाट्यकर्म और कतिपय साहित्यिक कार्य विश्व की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक धरोहरों में से एक है। हालाँकि मेलोड्रामा की अवधारणा इनमें से किसी में भी स्पष्टतया नहीं मिलती।[2]

ब्रेख्त ने स्वीकार किया है कि उसके रंगमंच के प्रयोग मौलिक नहीं हैं, वे भारत, जापान और चीन के रंगमंच पर सदियों पहले घटित हो चुके हैं। एशियाई रंगपरम्परा से प्रभावित ब्रेख्त का रंगमंचीय शास्त्र नाट्यशास्त्र के काफी निकट प्रतीत होता है। ब्रेख्त ने अरस्तु के समय से चले आ रहे 'ड्रामैटिक थिएटर' का विरोध करते हुए उसकी तुलना 'एपिक थिएटर' या महाकाव्यात्मक रंगमंच की अवधारणा को तरजीह दी क्योंकि भरत की परम्परा की तरह उसमें कविता का पाठ, कथा का बखान या 'नैरेशन' का तत्त्व मौजूद था।[3] राधावल्लभ त्रिपाठी का मानना है कि भारतीय सौन्दर्य चेतना नाटक को काव्य से अलग नहीं मानती है। उनके अनुसार भरत मुनि की परम्परा में रस ही नाट्य का प्राण है। रस के बिना नाट्य में कहीं भी कुछ भी घटित नहीं हो सकता। रसों में चार मूल रस हैं जिनका सम्बन्ध चारों पुरुषार्थों से है। इस प्रकार रसास्वाद जीवन के पुरुषार्थों से अनिवार्यतया अनुशक्त है। योग साधना तथा अध्यात्म मनुष्य को मुक्ति देता है। काव्य या नाटक भी भावुक या सहृदय को मुक्ति देता है। आनन्द दोनों का ही परम प्रयोजन है।[4]

भरत मुनि के अनुसार रस नाट्य-संग्रह के ग्यारह तत्त्वों (रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रंग या रंगमंच) का निचोड़ है। इन ग्यारह तत्त्वों में धर्मी की अवधारणा का केन्द्रीय महत्त्व है। धर्मी का अर्थ है रंगमंच पर नाटक की इतिकर्तव्यता, उसका अपने मुहावरे में ढलना। धर्मी के दो प्रकार लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी हैं। लोक का यथावत् रूप नाट्य प्रस्तुति में दिखाई देता हो तो लोकधर्मी और अभिनेता जब उसी में अपनी ओर से कुछ अतिशय लाकर उसे प्रस्तुत करे तो नाट्यधर्मी होती है। लोकधर्मी में हमारे भौतिक जगत का आभास मिलता है, नाट्यधर्मी में अभिनेता का आभ्यान्तर जगत प्रस्तुत किया जाता है। भरत मुनि और उनकी परम्परा के आचार्यों का मानना है कि नाट्य जीवन का अनुकरण है, पर वह जीवन का सतही अनुकरण मात्र नहीं है। रंगमंच पर यह अतिक्रान्ति नाट्यधर्मिता के द्वारा ही सम्भव होती है। त्रिपाठी के अनुसार भरत मुनि ने नाट्यधर्मी का विवेचन इसी अतिक्रांत की अपार सौन्दर्यमूलक सम्भावनाओं का आख्यान है। स्तानिस्लावस्की के लिए भी नाटकीयता अभिनेता का सर्वस्व है।

नाटक का चाक्षुष रूप रूपक कहता है। उपरूपक लोकनाट्य के ही परिष्कृत प्राचीन रूप हैं। त्रिपाठी के अनुसार हल्लीसक तथा रासक परवर्ती रासलीला में संक्रान्त हो गए होंगे तथा षिद्गक जैसे उपरूपकों की परिणति परवर्ती भाँड़ आदि में देखी जा सकती है। उपरूपक तथा लोकनाट्य का सम्बन्ध जयदेव के 'गीतगोविन्द' में देखा जा सकता है। अभिनव गुप्त की परिभाषा के अनुसार 'गीतगोविन्द' चित्रकाव्य नामक उपरूपक का उदाहरण है। विभिन्न रागों में गाया जाने वाला नृत्य और अभिनय से योजित उपरूपक चित्रकाव्य कहलाता है। 'गीतगोविन्द' विभिन्न प्रान्तों में लोकनाट्यों का प्रेरक, स्रोत और परिपोषक रहा है। असम का अंकीया नाट, बिहार में उमापति के नाटक, दक्षिण में भागवत नाटक, यक्षगान, कथकली तथा कृष्णाट्टम और बंगाल की जात्रा और हरिकीर्तन-इन सबका प्रेरणास्रोत गीतगोविन्द रहा है।[5]

हिन्दी फिल्मों को सुखान्तकों और गीतों की बहुलता के चलते अक्सर निशाने पर रखा जाता है परन्तु सुखान्तक और गीत प्राधान्यता दर्शकीय अभिरुचि के आशावादी पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। बलदेव उपाध्याय के अनुसार संस्कृत रंगमंच में सुखान्तकों की प्राधान्यता और बहुलता के पीछे तीन प्रमुख कारणों को गिनाया है-

(1) *भारतीय दर्शन आशावादी है। उसका यह दृढ़ मन्तव्य है कि संसार का यह भ्राम्यमाण चक्र अन्ततोगत्वा*

सौन्दर्य तथा आनन्द के उत्पादन में समर्थ होता है। मार्ग के नाना विध क्लेश तथा कष्ट उठाने का प्रसंग भले ही हमारे जीवन को दु:खद तथा क्लेशमय बनावे, परन्तु गन्तव्य स्थान जीवन का उद्देश्य-सदा ही आनन्द का निकेतन होता है, सौंदर्य की शीतल वायु जिसे सुखमय मधुमय बनाती है। इसी आशावादिता से प्रेरित होकर भारतीय नाटककार नाटक के आदि को आशीर्वाद से प्रारम्भ करता है और अन्त में विश्वशान्ति के लिए प्रार्थना करता है। भारतीय जीवन-दर्शन के सौन्दर्य तथा आनन्द का मधुमय संयोग संस्कृत नाटक को दु:खान्त होने से बचाता है।

(2) कलात्मक दृष्टि से नाटक का सुखान्त होना उचित है। भारतीय दृष्टि से विशुद्ध कला मानवों में सात्त्विक भावों का उदय कराती है। कला का मुख्य प्रयोजन सत्यं, शिवं तथा सुन्दर का उदय है। कला अपने साधक को सत्य, शिव, सुन्दर की ओर ले जाती है। नाटक कला का विशुद्ध विलास तथा आनन्दमय अभिव्यक्ति ठहरा। अत: नाटक का आनन्दमय होना नितान्त उचित है। इन्हीं दार्शनिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक दृष्टियों को लक्ष्य में रखते हुए भारतीय नाटक सर्वदा 'सुखान्त' ही होता है।

(3) सुखान्त होना अव्यावहारिकता का चिह्न नहीं है। भारतीय कवि मानव जीवन के दोनों पहलुओं से परिचित होता है-मानव के सुख तथा दु:ख, राग तथा द्वेष, कुरूप तथा सुरूप का चित्रण नाटक को यथार्थवादी बनाने के लिए पर्याप्त है। भारतीय नाटक जीवन का एकांगी चित्रण प्रस्तुत नहीं करता, वह भारतीय जीवन का पूर्ण तथा सार्वभौम चित्रण करता है। सुख के अंकन में भारतीय कवि जितना जागरूक रहता है, दु:ख के चित्रण के प्रति भी उतना ही तत्पर रहता है, परन्तु भारतीय संस्कृति का प्रसाधक होने के कारण वह अपने नाटक को दु:खान्त होने से सदा ही बचाता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि भारतीय नाटक में दु:ख का, मानवीय क्लेश का, तथा कमजोरियों का चित्रण होता ही नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि उन भावों का भी चित्रण होता है और भरपूर चित्रण होता है, परंतु कहाँ? नाटक के मध्य में ही, पर्यवसान में नहीं। भवभूति का उत्तररामचरित इसी तरह की कृति है। सुखद जीवन का चित्रण नहीं है, प्रत्युत् वह राम-सीता जैसे मान्य व्यक्तियों के सुखद जीवन की विषम परिस्थितियों की वेदनामयी अभिव्यक्ति है। ऐसी दशा में भवभूति पर कोई भी आलोचक पक्षपात का दोषारोपण नहीं कर सकता, तथापि कवि ने वाल्मीकि की दु:खान्त कथा का जो सुखान्त पर्यवसान प्रस्तुत किया है, वह भारतीय जीवन के दार्शनिक तथ्य की एक मनोहर अभिव्यंजना है, भारतीय आशावादिता का मंजुल प्रतीक है, जो जीवन को पूर्ण, सामंजस्यशील तथा मधुर बनाता है। संस्कृत नाटक का वह वैशिष्ट्य नाट्यकला से सम्बन्ध न होकर आन्तरिक दर्शन के ऊपर आश्रित है।[6]

बहुतायत फिल्म अध्येताओं ने हिन्दी फिल्मों के मेलोड्रामाई ढाँचे के लिए संस्कृत साहित्य के रस सिद्धान्त को प्रमुख कारण माना है। भरत मुनि ने अपने रससूत्र की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से भोज्य रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि, द्रव्यों, व्यंजनों तथा औषधियों से विमावादि रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी नाट्य रस रूप प्राप्त करते हैं।[7] रस सिद्धान्त से ही उद्भूत साधारणीकरण की अवधारणा दर्शक और अभिनेता के बीच अभिनय से रसोत्पादन के माध्यम से वैशिष्ट्य के लोप पर बल देती है। साधारणीकरण का अर्थ है साधारण करना। इस प्रकार विभावादि के साधारणीकरण का अर्थ हुआ विभावादि को साधारण रूप में प्रस्तुत करना, उनके वैशिष्ट्य का लोप करना। जब कोई व्यक्ति नाटक देखता है तो प्रारम्भ में नाटक के पात्र अपने व्यक्तित्व के साथ उपस्थित होते हैं। वे अपने देश व काल की सीमाओं में ही दिखाई देते हैं और दर्शक को उनके पृथक अस्तित्व के ज्ञान के साथ-साथ अपनी पृथकता का अनुभव भी रहता है। जैसे-जैसे नाटक अग्रसर होता है तो एक ओर पात्रों के वैशिष्ट्य का तिरोभाव होने लगता है तो दूसरी ओर दर्शक को अपने पृथक, सीमित और संकुचित व्यक्तित्व का अनुभव नहीं रहता। एक ओर तो विभावादि साधारण होने लगते हैं तथा दूसरी ओर दर्शक के मोह का विनाश होने लगता है। इसी अवस्था को रामचन्द्र शुक्ल ने 'स्वार्थ के सीमित घेरे से मुक्ति' या 'हृदय की मुक्तावस्था कहा है।'[8]

संस्कृत नाटकों में भी मेलोड्रामा का प्रमुख तत्त्व द्वन्द्व बहुतायत मात्रा में परिलक्षित होता है। प्राय: यह द्वन्द्व कर्तव्य और प्रेम, श्रेय और प्रेय, काम और अध्यात्म के प्रतीकात्मक रूपों में दिखाई देता है। जहाँ 'उत्तररामचरित' (भवभूति) राम के प्रजा के प्रति कर्तव्यनिष्ठता और सगर्भा पत्नी के प्रति अनुराग के दुविधा को कारुणिक रूप से प्रस्तुत करता है, वहीं 'अभिज्ञानशाकुन्तल' (कालिदास) में श्रेय और प्रेय के परस्पर संघर्ष का बड़ा ही उदात्त चरित्र खींचा है। शकुन्तला को दो शक्तियाँ अपनी ओर खींच रही हैं। एक के प्रतिनिधि हैं दुर्वासा और दूसरे का

प्रतिनिधि है दुष्यन्त। दुर्वासा आध्यात्मिकता, श्रेय का प्रतीक है। भारत का सार्वभौम राजा दुष्यन्त भोग-विलास या भौतिकवाद का अवतार है। वह छिपे चोर की तरह शान्त आश्रम में प्रवेश करता है और अपने प्रलोभनों से उसे अशुद्ध तथा अशान्त बना देता है। वह निश्चय ही प्रेय का प्रतीक है। शकुन्तला उपस्थित श्रेय का तिरस्कार कर अनुपस्थित, दूरस्थ प्रेय को अपना हृदय दे देती है। परिणामतः भरी सभा में तिरस्कृत होती है। वह मरीचि के आश्रम में अपनी माता मेनका के पास ऋषि की देखरेख में घोर तपस्या करती है। अपने कालुष्य को दूर भगाती है। अश्वघोष कृत 'सौंदरनन्द' भी उद्दाम काम तथा धर्म के प्रति जागृत प्रेम के विषम संघर्ष को भव्य भाषा में चित्रित करने वाला एक अद्‌भुत काव्य है। सुन्दरनन्द या सौंदरनन्द प्रियतमा सुन्दरी से मोहभंग तथा बुद्ध के द्वारा दी जाने वाली प्रवज्याग्रहण से सम्बन्धित है।

संस्कृत नाटकों का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश होता है भावाभिव्यंजनापूर्ण गीत्यात्मक पक्ष, जिनके द्वारा पात्रों की मानसिक वृत्तियों का पूर्ण चित्रण नाटककार प्रस्तुत करता है। पाश्चात्य नाटकों के समान यहाँ 'संवाद' सजाने तथा विकसित करने की ओर नाटककारों की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रवृत्ति के कारण नाटकों में चित्रित पात्र परम्परायुक्त होते हैं और अपने समाज के प्रतिनिधि (type) हैं। संस्कृत के नाटककार पात्रों के वैयक्तिक चरित्रांकन के जरिए उन्हें आधुनिक श्रेणी में लाने का उद्योग नहीं करते। परम्पराबद्धता पात्रों के चरित्र में दूषण उपस्थित नहीं करती। संस्कृत नाटककार संसार की अनन्त विचित्रता की अनुभूति पर अपने पात्रों को विशिष्ट व्यक्ति, जीवित प्राणी यथार्थ जीव बनाने से कभी पराङ्.मुख नहीं होता। दुष्यन्त भारत सम्राट अवश्य है परंतु उसके जीवन में कवि ने जिस उत्थान-पतन, ह्रास-विकास की मार्मिक अभिव्यक्ति की है, वह उसे अविस्मरणीय चरित्र बना देती है। कुछ पात्रों को हम 'सर्वदेशीय' इसलिए मानते हैं कि उनके भीतर चित्रित मानवता की अभिव्यक्ति भारत में ही न मिलकर विश्व के अन्य देशों में पूर्ण रीति से मिल सकती है। 'मृच्छकटिकम्' (शूद्रक) का सभिक, माथुरक, शकार तथा शर्विलक ऐसे ही सुन्दर तथा सार्वभौम चरित्र हैं।

मेलोड्रामा पद पश्चिम से प्रेरित है, लेकिन एशियाई संस्कृतियों में, विशेष रूप से भारत अपनी जड़ों की तलाश के साथ इसे बरता जा रहा है। इसी तरह सिंहली (श्रीलंकाई) मेलोड्रामा को समझने के लिए उसकी सांस्कृतिक जड़ों को जानना होगा। इसका उत्स वहाँ की मौजूदा नूर्ति रंगमंच से है। नूर्ति वह रंगपरम्परा है जो कि यथार्थ और फन्तासी, गीत और नृत्य, भव्य मंचीय शिल्प और अपरिष्कृत हास्य का दुर्लभ संयोजन है, भारत के पारसी थिएटर से प्रेरित है। हिन्दी सिनेमा अपने शास्त्रीय चिन्तन और बुनियादी विकास की आधारशिला तैयार करने के लिए पारसी रगमंच के साथ लोकनाट्य शैलियों जात्रा, लावणी, नौटंकी, नाच, सांग का ऋणी है। भारत की पारसी रंगमंच कम्पनियों ने भारत में अपार लोकप्रियता के मनोरंजनकर्ताओं के रूप में वृहत मान्यता प्राप्त की थी।[9] इनमें से कुछ कम्पनियों ने श्रीलंका का दौरा किया था और नूर्ति परम्परा की नींव रखने में मदद की। बहुत-सी सिंहली मेलोड्रामाई फिल्में नूर्ति नाटकों पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी और तमिल सिनेमा ने सिंहली मेलोड्रामाओं को प्रभावित किया। यह देखना रोचक है कि पारसी रंगमंच का भारतीय लोकप्रिय सिनेमा पर भी प्रभावकारी निर्माणात्मक असर था। सिंहली फिल्म मेलोड्रामाओं की प्रकृति को समझने के लिए हमें उस भावश्रृंखला को जानना होगा जिससे वे सम्बद्ध हैं। श्रीलंका में सिंहली, तमिल और अँग्रेजी भाषाएँ बोली जाती हैं। तमिल और अँग्रेजी में मुश्किल से ही फिल्में बनती हैं, परन्तु सिंहली फिल्म मेलोड्रामाओं पर तमिल सम्पर्कों का भी प्रभाव रहा है।

साधारणीकरण भारतीय काव्य, नाटक एवं अन्य ललित कलाओं का प्रमुख बिन्दु रहा है। साधारणीकरण चूँकि पाठक-दर्शक-श्रोता की आत्मविस्मृति से जुड़ा हुआ है, इसलिए स्वाभाविक रूप से भारतीय काव्य एवं नाटकों का मूल प्रतिपाद्य उदात्त चेतना से रहा, क्योंकि उदात्त चेतना के बिना व्यक्ति साधारणीकरण के उस बिन्दु तक पहुँच ही नहीं सकता, जहाँ पर वह निज अस्तित्व को भुलाकर नायक/नायिकाओं के व्यक्तित्व का अंग बन जाता है। भारतीय फिल्मों ने काव्यशास्त्र के रस सिद्धात को आत्मसात किया है। मूक फिल्मों के युग में धार्मिक और ऐतिहासिक फिल्मों के लिए उन्हीं कथा-अंशों का चयन किया गया जिनमें साधारणीकरण की अहम भूमिका है। हिन्दी फिल्मों ने साधारणीकरण की प्रक्रिया के लिए दो मूल आधारों का आश्रय लिया है। पहला, दर्शक की भावनाओं को विभिन्न प्रकार से उद्वेलित करके उसे मथना तथा संयोगों की संरचना करके फिल्म के सम्पूर्ण कथानक को एक प्रकार की उदात्तता के आलोक से आलोकित करते उसे आदर्शवादी, सुखान्त अथवा सुख-दु:ख की मिश्रित अनुभूति से युक्त करना।

दर्शकों की भावनाओं के ज्वार को उद्वेलित करने के लिए फिल्म साहित्य की अपेक्षा अधिक साधनसम्पन्न

होती है। पहली बात तो यही है कि फिल्म के अधिकांश कथानक भावना प्रधान होते हैं। इसीलिए हमारे यहाँ प्रेममय कथानकों की प्रधानता रही है। यदि कथानक सामाजिक यथार्थ का अंकन करते भी हैं, तो भी उनके भावनात्मक पक्ष (मनोवैज्ञानिक पक्ष को नहीं) को प्रमुखता दी जाती है। इस बावत विजय अग्रवाल का कहना है कि *आरम्भ में दहेज की समस्या, अनमेल विवाह तथा जाति-प्रथा को लेकर कई फिल्में बनी हैं। लेकिन ध्यान से देखने पर साफ लगता है कि ये फिल्में समस्या के सामाजिक-आर्थिक कारणों की तलाश में उतनी नहीं जाती, जितनी भावात्मक कारणों में। इन समस्याओं के चित्रण के समय सन्त्रास (करुण दृश्यों) देने की स्थिति को इस अतिरेक के साथ प्रस्तुत किया जाता है ताकि दर्शक की सारी चेतना पात्रों के क्रोध और आसुँओं से आप्लावित हो जाए।*[10]

फिल्म में दृश्य कला दो चीज़ों पर निर्भर करती है- कम्पोजिशन और माइसेनसीन जिसका अर्थ है किसी फ्रेम में लोग और वस्तुएँ किस प्रकार एक परस्पर सम्बन्ध और विवरणों की बारीकियों के तहत एक साथ रखी जाती हैं और जो इन सम्बन्धों को अग्रगामिता प्रदान करती है। फ्रांसीसी पदावली माइसेनसीन का अर्थ है 'मंच पर रखना'। यह रंगमंच में सभी दृश्य तत्त्वों के व्यवस्थापन को सन्दर्भित करता है। किसी फिल्म में यह एक वृहत् पदावली के तौर पर इस्तेमाल की जाती है जिसके अन्तर्गत फिल्म के विभिन्न तत्त्व जैसे कैमरे की दूरी, कैमरे के कोण, लेन्स, प्रकाश व्यवस्था और साथ ही व्यक्ति और वस्तु की परस्पर सम्बन्धों के तहत अवस्थिति निर्धारण शामिल किए जाते हैं। इसी प्रकार उपन्यास में एक प्रकार से लेखक की महत्त्वाकांक्षा और वस्तु, लोग और घटनाओं और वस्तुओं की गति ध्वन्यात्मक मूल्यों के द्वारा अभिव्यक्त होती है। जबकि किसी सर्वश्रेष्ठ फिल्म का उद्देश्य तत्त्वों का किसी दृश्य में कलात्मक संघटन होता है या ऐसे दीर्घजीवी दृश्य की रचना है जो हमें कम परेशानी के साथ अधिकाधिक देखने में सहायता करता है और गहरी अनुभूतियाँ जो बतौर 'देखने योग्य कल्पना' उपन्यास लेखक की आत्म-स्वीकृति होती हैं, स्थितियों और किरदारों को बनाती हैं और विषय को बनाने के लिए संघनित करने का प्रयास हैं। हेनरी जेम्स के शब्दों में, *'वस्तुओं की दृश्यता, वह दृश्यता जो अपने अर्थ को सम्प्रेषित करती है। वह रंगों, राहतों, अभिव्यक्तियों, सतह (उपन्यासकार के) मानवीय दृष्यव्यता के तत्त्वों को पकड़ने के लिए वह लिखित पृष्ठों पर दर्शाता है''।*

हिन्दी सिनेमा को शरतचन्द्र ने तो हॉलीवुड को शेक्सपियर ने सदैव प्रभावित किया है। शेक्सपियर की सभी नाट्यकृतियाँ फिल्मी पर्दे पर अवतरित हो चुकी है। *हैमलेट* के अब तक पचासों संस्करण आ चुके हैं। शेक्सपियर की कृति पर आधारित फ्रेंको जेफरेली की 'रोमियो एंड जूलिएट' (1968) भी टिकटी खिड़की पर अत्यधिक सफल रही। कथाकार चेखव और ओ हेनरी की कहानियों पर भी तमाम फिल्में बनी हैं। हाल ही में उनकी सुप्रसिद्ध कहानी 'द लास्ट लीफ' को विक्रम मोटवानी 'लुटेरा' फिल्म में प्रेम कहानी के रूप में पेश किया। फिल्म निर्माताओं का एक वर्ग ऐसा भी है जो हमेशा ऐसी विश्व की कालजयी रचनाओं की तलाश में रहता है जिन पर व्यावसायिक रूप से सफल फिल्मों का निर्माण किया जा सके और जिनकी ओर व्यापक जनसमुदाय को आकृष्ट किया जा सके। संगीतकार से निर्देशक बने विशाल भारद्वाज ने ब्रिटिश नाटककार शेक्सपियर की कृतियों में अपने लिए उपयुक्त कथानक की तलाश की। सबसे पहले *मैकबेथ* पर 'मकबूल' और तदुपरान्त *ऑथेलो* पर 'ओमकारा' फिल्म बनाई। उन्होंने रस्किन बांड की कृति पर बाल फिल्म 'द ब्ल्यू अम्ब्रेला' का भी निर्माण किया। उनकी रूपान्तरित फिल्मों की खासियत यह है कि वे पश्चिम की रचनाओं का इस तरह भारतीयकरण करते हैं कि वह दर्शकों को विश्वसनीय लगता है। शेक्सपियर के प्रति अपने लगाव को स्पष्ट करते हुए विशाल भारद्वाज इस सम्बन्ध में कहते हैं[11]:-

> *"मैं शेक्सपियर के लेखन से हमेशा प्रेरित रहा हूँ। कहानी को बयान करने की उनकी शैली सबसे जुदा है। मुझे लगता है कि इन रचनाओं का भारतीयकरण करके दिखाना जरूरी है और यही काम मैं कर रहा हूँ। चूँकि साहित्य भी अभिव्यक्ति का एक माध्यम है, इसलिए सिनेमाई भाषा का एक साथ मिलने के बाद उसमें व्यक्त विचार और प्रखर रूप में सामने आते हैं। जब आप किसी साहित्यिक कृति पर फिल्म बनाते हैं, तो उस कृति में नाटकीय तत्त्वों की प्रधानता के कारण उसके फिल्मीकरण की दिशाएँ खुल जाती हैं और एक फिल्मकार इन्हीं सम्भावनाओं की तलाश में रहता है। चूँकि फिल्म की पटकथा व्यावसायिक लक्ष्यों को ध्यान में रखकर लिखी जाती है, इसलिए उसमें कई ऐसे फॉर्मूलों का समावेश भी किया जाता है, जो प्रचलित लोकप्रिय सिनेमा के अंग माने जाते हैं। शायद इसी वजह से साहित्यिक कृतियों के फिल्मीकरण के प्रयास अक्सर सफल भी रहे हैं।"*

गैस्टन राबर्ज ने सोमदत्ता मंडल की पुस्तक *फिल्म एंड फिक्शनः वर्डस इनटू इमेज* की भूमिका में कहा है कि जब मंडल कहती हैं कि नाटक को 'सतत नाटकीय व्यापार' के तौर पर अंगीकृत किया गया है और फिल्म को मूड, लय, भावनात्मक गहनता और विषयात्मक विकास के तौर पर समझा गया है तो क्या वे अपने तर्कों को नाट्यशास्त्र के प्रभाव में विवेचित नहीं करती हैं।[12] राबर्ज के इस सवाल के प्रत्युत्तर में मेरे जेहन में दो प्रश्न उठते हैं – चूँकि जनसंचार माध्यमों के विकास के कालक्रम में फिल्म नाटक की अनुवर्ती विधा है, क्या इसीलिए हमारे लिए स्वाभाविक है कि हम फिल्म अध्ययन को नाट्य-अध्ययन के आलोक में विवेचित करते हैं? दूसरा क्या भारतीय सन्दर्भों में शास्त्रीय और लोक-रंगमच तथा पारसी थिएटर ने हिन्दी सिनेमा पर जिस तरह से प्रभाव डाला है, हमारे लिए सम्भव है कि हम हिन्दी सिनेमा को स्वायत्त सौन्दर्यशास्त्र के नाम पर उसे उसकी जड़ों से काटकर देखें और किसी ठोस नतीजे पर पहुँचने का दावा करें? ज्यादातर फिल्म अध्येताओं का मानना है कि फिल्में किसी देश के समाज और संस्कृति से निरपेक्ष नहीं रह सकतीं। इसलिए फिल्म के सौंदर्यशास्त्र के विकास में देश विशेष के समाज-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य की भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता। हिन्दी फिल्मों पर भी यह बात लागू होती है। हिन्दी फिल्मों का सौन्दर्यशास्त्र विविधतामूलक लोक-संस्कृति की देन है जिसमें अनेक नाट्य परम्पराओं के तत्त्वों को आत्मसात किया गया है।

रंगमंच और सिनेमा के बीच एक ठोस और गहरी सम्बद्धता सदा से कायम रही है। भारत में सिनेमा के शुरुआती दौर में फिल्में नाटकों से प्रेरित थी। कई फिल्में ऐसी हैं जो सीधे-सीधे नाटकों का फिल्मी रूपान्तर बनीं। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो यह मानते हैं कि सिनेमा को जीवन्तता प्रदान करने में रंगमंच ने सक्रिय और महती भूमिका निभाई है। हिन्दी सिनेमा को समृद्ध करने में रंगकर्मियों का भी योगदान रहा है। यद्यपि खास प्रदर्शनात्मक पद्धति और बुनियादी सुविधाओं के अन्तर के कारण रंगमंच और सिनेमा में फ़र्क़ देखा जा सकता है बावजूद इसके दोनों माध्यमों में घनिष्ठता और अन्तरंगता के दर्शन किए जा सकते हैं।

प्रसिद्ध रंगकर्मी मेलिस तो सिनेमा को एक प्रकार का थिएटर ही मानते थे तथा अपना शॉट रंगमंच की भाँति एक खास फासले से ही लिया करते थे। प्रसिद्ध फिल्मकार ग्रिफिथ भी थिएटर से ही फिल्मों में आए थे। थिएटर और फिल्म निर्माण की व्यवहार शैली एक-दूसरे से बिल्कुल जुदा है। रंगमंच पर कलाकार के पास प्रदर्शन की पुनरावृत्ति का अवसर नहीं होता जबकि फिल्मों में रीटेक दिए जा सकते हैं। इसलिए रंगमंग के पूर्वाभ्यास में ज्यादा मेहनत की माँग की जाती है। हिन्दी फिल्म जगत में नसीरूद्दीन शाह, शबाना आज़मी, ओम पुरी, अनुपम खेर, ए० के० हंगल, पंकज कपूर, दिनेश ठाकुर, पीयूष मिश्रा, जया बच्चन, परेश रावल, सचिन खेड़ेकर, दिव्या दता, गोविन्द नामदेव, रजित कपूर, राजपाल यादव, मनोज वाजपेयी जैसे कलाकारों की रंगमंच और सिनेमा में बराबर आवाजाही रही है। कई फिल्मी कलाकार फिल्मों में स्थापित होने के बावजूद चुनौतीपूर्ण अभिनय और आत्म-सन्तुष्टि के लिए भी रंगमंच से जुड़ना पसन्द करते हैं। स्टार आकर्षण के कारण रंगमंच के दर्शकों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। यद्यपि कई रंगकर्मी इस बदलाव को नापसन्द करते हैं और फिल्मी अदाकारों के रंगमंच करने का विरोध भी करते है, बावजूद इसके इससे इनकार नहीं किया जा सकता है कि फिल्मी सितारों का आकर्षण थिएटर का विस्तार प्रबुद्ध वर्ग से साधारण जनता तक करने की क्षमता रखता है।

भारतीय सिनेमा के पितामह दादासाहेब फालके ने 'नवयुग' पत्रिका के फरवरी 1918 के अंक में भारतीय सिनेमा शीर्षक के साथ चार आलेखों की कड़ी में सिनेमा के लिए रंगमंच को अपरिहार्य बताते हुए नाट्य कला के सिद्धान्तों को अत्यंत महत्त्वपूर्ण बताते हुए कहा था[13]:-

> *"सिनेमा के लिए पटकथा लिखने से पूर्व किसी ऐसे नाटक की जरूरत होती है, जिसमें दृष्टव्य गुण हों। सिनेमा के लिए एक्शन की तर्ज पर पटकथा लिखना अपने में स्वतन्त्र अनुशासन है। यदि कोई कथा नाटक में सफलता हासिल कर पाई है, तो फिल्मांकन भी सफल होगा, यह तो कतई जरूरी नहीं है, नहीं तो लोकमान्य तिलक और एनी बेसेंट के भाषण (जिनमें अपार भीड़ रहती है)" की ही फिल्में बना ली जाएँ। रंगमंच का दर्शक नाटक की भाषा के सौन्दर्य से प्रभावित है। यदि वह भाषा नहीं समझता है, तो वह कुछ भी नहीं समझ सकता है। मैंने कई इटेलियन, फ्रेंच, जर्मन नाटक देखे हैं, लेकिन मुझे उनका कुछ भी पल्ले नहीं पड़ा। यदि उनके सामने कैमरा रख दिया जाए, तो भी परिणाम वही होंगे. समझ के बाहर और अर्थहीन। परदे के लिए पटकथा लिखना बिल्कुल भिन्न किस्म का अनुशासन है। रंगमंच का नाटक कानों के लिए है, जबकि परदे का खेल आँखों के लिए है। रंगमंच के दर्शक में नाटक की भाषा की समझ जरूरी है, जबकि पटकथा के दर्शक में भाषा का ज्ञान न हो तो न हो, लेकिन*

उसमें देखकर समझने की दृष्टि होनी चाहिए। प्रचलित पारम्परिक नाटक मुखर है, जबकि मूक चलचित्र दृष्टव्य हैं। रंगमंच के नाटक में श्रव्य तत्त्व पूरे समय प्रबल रहता है। दर्शक चाहे, तो अपनी आँखें कुछ देर बन्द कर ले, तो वह संवाद सुनकर काम चला सकता है। एक्टर को तन्दुरुस्त चेहरे की जरूरत नहीं, अगर वह अच्छी आवाज में गाने वाला हो। यदि गायक का गला सुरीला न हो, तो संगत करता वाद्य उसकी पूर्ति कर सकता है। यहाँ तक कि रंगमंच पर कुछ भी न भा रहा हो, तो आप आसपास देख सकते हैं। अनेकों दृश्यों को केवल मुँहजबानी वर्णन द्वारा बखाना जा सकता है। लेकिन यह सच है कि मूक सिनेमा के नए अभिनेता के पास दर्शक को बाँधे रखने के लिए केवल एक-दो उपाय ही हैं। पहला उपाय तो शरीर के सौन्दर्य और स्वास्थ्य का है, और दूसरा उपाय है अपने चेहरे में भाव भरना। मूक सिनेमा के एक्टर में इन दोनों गुणों की भरमार होना निहायत जरूरी है, तभी वह लोकप्रिय हो सकता है।"[14]

स्पष्ट है सिनेमा के प्रारम्भिक काल में नाटक के बिना सिने पटकथा की कल्पना दुश्वार थी। दादा साहेब फालके की अधिकतर फिल्में उन धार्मिक- पौराणिक आख्यानों पर आधारित थी जिन्हें अक्सर मंचित किया जाता रहा था और जिनकी लोकप्रियता के बारे में दादा साहब फालके आश्वस्त थे। रंगमंच के दर्शकों ने दादा साहब फालके की फिल्मों को सराहा। पहली फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' 1913) से लेकर 'कालिया मर्दन' (1919), 'उषा स्वप्न' (1920), 'पांडव वनवास' (1922), 'अश्वत्थामा' (1923) और 'पांडवशोध' (1925) जैसी मिथकीय फिल्में सफल रहीं। इसी तरह पारसी रंगमंच ने भी हिन्दी सिनेमा की नींव डालने में अपना योगदान दिया। पारसी थिएटर के धरोहर नाटक 'दिले जिगर' (1931), 'लाल-ए-चमन' (1933) पर इन्हीं नामों से फिल्में बनीं। भारतीय जननाट्य संघ की स्थापना के बाद मुम्बई में कलाकारों की एक पूरी पीढ़ी रंगमंच और सिनेमा की हमराही बनी। जोहरा सहगल, भीष्म साहनी, कैफी आजमी, अली सरदार जाफरी, ख्वाजा अब्बास, बलराज साहनी, प्रेम धवन, दीना पाठक, मोहन सहगल विश्वामित्र आदिल इस पीढ़ी के प्रतिनिधि कलाकार थे।

हिन्दी सिनेमा को प्रख्यात सिने चिन्तक चिदानन्द दासगुप्ता 'मिथक' तथा 'फन्तासी' से अधिक नहीं समझते हैं। इसके लिए वह फिल्मकार को नहीं दर्शक अभिरुचि को दोष देते हैं। गुप्ता के अनुसार भारतीय जनमानस यथार्थ को मिथक से अलग कर देखने का आदी नहीं है। इसलिए हिन्दी सिनेमा को अर्थपूर्ण नहीं बनाया जा सकता। कुछ इसी तरह के प्रारम्भिक विचार सत्यजित राय ने भी हिन्दी सिनेमा के बारे में रहे-[15] *"हिन्दी फिल्म के मसाले सुपरिचित हैं। रंग (ईस्टमैन), गीत (छह या सात), नृत्य एकल या सामूहिक, जितना उन्मादपूर्ण उतना अच्छा, यद्यपि बुरी लड़की, बुरा व्यक्ति, अच्छा व्यक्ति, प्रेम (चुम्बन वर्जित), अश्रु बहना. हाथापाई, पीछा, भावातिरेक, पात्र जिनका अस्तित्व शून्य में है. कुल्लू, मनाली, ऊटी, कश्मीर, लन्दन, पेरिस, हांककांग, टोकियो में लोकेशन, कोई तीन फिल्मों को देखा जाए तो दो में यह मसाले मिल जाएँगे। शास्त्रीय परिपाटी के नवरसों को फूहड़ता के अन्तिम चरण तक ले जाना।"* आज हिन्दी सिनेमा दासगुप्ता और राय की परिभाषा से कोसों दूर निकल चुका है। स्वयं समानान्तर सिनेमा आन्दोलन के पैरोकार श्याम बेनेगल और गोविंद निहलानी भी उत्तर-उदारीकरण के दौर में अपनी फिल्मों को यथार्थवादी कलात्मक ढाँचे से निकालकर व्यावसायिक तर्ज पर फिल्मों का निर्माण कर रहे हैं। इसमें उनकी समय की माँग को समझने की दृष्टि मिलती है।

विजय अग्रवाल हिन्दी सिनेमा में भारतीय नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए कहते हैं - *"फिल्मों ने ऐसे प्रतीकों का प्रयोग करके 'नाट्यशास्त्र' के उन नियमों का भी पालन किया, जिन्हें आचार्य भरतमुनि ने रंगमंच पर वर्जित माना था। यदि शुद्ध भाववादी दृष्टिकोण से सोचा जाए, तो यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बलात्कार, छेड़खानी तथा हत्या जैसे घृणित एवं वीभत्स दृश्य साधारणीकरण की प्रक्रिया में, अर्थात् भावों के उच्च सीमा तक पहुँचने के मार्ग में बाधक ही बनते हैं। आठवें दशक के बाद की फिल्में, जिनमें यथार्थवाद (प्रकृतवाद) के नाम पर हिंसा और नग्नता जैसे तत्त्वों की प्रधानता होती है, अपनी साधारणीकरण की क्षमता खोती जा रही है।'"*[16] विजय अग्रवाल ने हिन्दी फिल्मों की सफलता में लोक-चेतना की अनुकूलता, संगीतात्मकता, तत्कालीन परिस्थितियों और नयापन का योगदान माना है। कोई भी समाज कला माध्यमों को, विशेषकर यदि वह लोकप्रिय कला माध्यम है तो उसे अपनी चेतना के अनुसार ग्रहण करता है। जीवन दर्शन, संस्कार, परम्पराएँ तथा भविष्य की अनेक तरह की अवधारणाएँ उसकी चेतना में निरन्तर उपस्थित रहती हैं।

विशेष रूप से दृश्य-श्रव्य कला माध्यम अपनी प्रभावकारी क्षमता द्वारा चेतना में उपस्थित इन तत्त्वों को जाग्रत करता है, उत्तेजित करता है, और अपने-अपने ढंग से उनका शमन करता है। 'शमन' के अन्तर्गत ही सुखान्त, दु:खान्त और प्रसादान्त जैसी परम्पराएँ आती हैं।[17] 'शमन' की अवधारणा यूनानी नाट्यशास्त्र के विरेचन/कैथार्सिस से मिलता-जुलता है जिसके अनुसार नाटक में पात्रों का अभिनय इतना जीवन्त होना चाहिए वह दर्शकों को द्रवीभूत कर उनके संवेदनाओं का उदात्तीकरण करे।

हिन्दी फिल्मी ढाँचे को ऐतिहासिक रूप से सिनेमा के आगमन से पहले के रंगमंचीय स्वरूपों में पहचाना जा सकता है। हिन्दी सिनेमा अपने संगीतमय स्वरूप के लिए 19वीं सदी की पारसी रंगमंच जैसी शहरी रंगमंचीय परम्परा, मराठी रंगमंच और बंगाली जात्रा का ऋणी है। शुरुआती हिन्दी फिल्में रंगमंच के नाटकों को फिल्माकर ही बनी थीं और सिनेमा के प्रारम्भिक दौर में फिल्मों के बहुत से कलाकार रंगमंच के कलाकार थे। इन रंगमंच की परम्पराओं ने अपने ढाँचे को विभिन्न लोकनाट्य परम्पराओं से स्वाभाविक रूप में ग्रहण किया था। जब 19वीं सदी में नए भारतीय रंगमंच विकसित होना शुरू हुआ तो इन लोकनाट्य स्वरूपों ने तत्काल रूप से प्रभाव दिखाया और नए रंगमंच के लिए नृत्य और गीत की एक विशाल परम्परा उपलब्ध की। जब सवाक् फिल्में आईं तो यही खजाना हिन्दी फिल्मों को विरासत में मिला।[18]

गीत, संगीत और नृत्य, ये तीनों कलाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। कथानक के भावों के अनुसार गीतों की रचना की जाती है, गीतों के भावों के अनुरूप संगीत बनाया जाता है और संगीत के अनुरूप नृत्य का विधान किया जाता है। कथानक के साथ इन तीनों के सामंजस्य ने दर्शकों की भावनाओं और कल्पनाओं को विस्तृत करने तथा उसे गहरा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। साहित्य में गीत हो सकते हैं, संगीत और नृत्य नहीं जबकि रंगमंच और फिल्म में ये तीनों होते हैं। फिल्मी गीत और संगीत केवल फिल्म के अन्दर ही दर्शकों के भाव-बोध को उद्वेलित नहीं करते, बल्कि स्वतन्त्र रूप से सुनने पर भी उद्वेलित करते हैं।[19]

नृत्य और गीत की दृश्यश्रृंखलाएँ लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, बावजूद इसके कि नाच-गाने के दृश्य हिन्दी फिल्मों में शायद ही एक-दूसरे से नितान्त भिन्न होते हों। ध्वनि के शुरुआती दिनों से ही नृत्य-गीत एक व्यावसायिक उत्पाद के तौर पर तमिल, तेलुगु, मराठी और बाँग्ला समेत तमाम भारतीय भाषाओं की फिल्मों में शामिल किए जाते रहे हैं। हालाँकि भारतीय फिल्मों को म्यूजिकल जॉनर में नहीं रखा जा सकता, बावजूद इसके कि इनमें नाच-गाने की प्रचुरता होती है। फिर भी हिन्दी फिल्मों का उपर्युक्त विधागत अध्ययन नहीं किया जा सकता है। यद्यपि ध्वनि के आगमन ने हॉलीवुड में म्यूजिकल्स के युग का सूत्रपात किया था और म्यूजिकल एक अलग विधा के तौर पर सामने आया था। ध्वनि के शुरुआती दशकों में सिनेमा पर म्यूजिकल जॉनर हावी था, लेकिन हिन्दी फिल्मों को नाच-गाने की उपस्थिति मात्र से म्यूजिकल कहना उनको गलत समझने की बुनियादी भूल होगी। जैसा कि रोज़ी थॉमस कहती हैं- *"1930 में कई भारतीय विधाएँ सुस्थापित थीं जिसमें सामाजिक, मिथकीय, भक्ति, ऐतिहासिक, स्टंट, कॉस्ट्यूम और फन्तासी सम्मिलित थे। चूँकि नृत्य और गीत प्रत्येक विधा का एक अभिन्न हिस्सा हैं, तो म्यूजिकल पदावली स्वयंमेव ही सामने आ जाती है। विधाएँ ऐतिहासिक तौर पर सुविकसित हुई हैं। इस प्रकार मल्टीस्टारर, हॉरर फ्लिक, शहरी फिल्म और अप्रवासी फिल्म, और म्यूजिकल जैसी श्रेणियाँ लगातार जुड़ रही हैं।"* [20]

सुधीश पचौरी ने वर्तमान और पुरातन गीतों की तुलना करते हुए उनका रससिद्धान्त-सम्मत विवेचन किया है कि किस प्रकार गीतों के साधारणीकरण की परम्परा लुप्त होती जा रही है-*" पुराने गीत कहानी के हिस्से होते थे। वे फिल्म के वातावरण होते थे। नायक नायिका के बीच सम्बन्धों का बयान होता था, संवाद होता था। वे अपने दृश्य में मग्न होते थे। अपने मिलन और विरह-प्रसंगों में वे शुद्ध रस का संचार करते थे। उनका वैशिष्ट्य, गीत का देशकाल साधारणीकरण की प्रक्रिया में आकर बदल जाता था। दर्शक फिल्म को नाटक की तरह देख सकते थे। दर्शक के बीच तादात्म्य स्थापित किया जाता था यानी दर्शक और नायक-नायिका के बीच एक भावना और भावक की दूरी बनी रहती थी। पुराने कथानकों में प्राय: मिलन नहीं होता। प्रेम की शील केन्द्रित पवित्रता, निश्च्छलता, विकटता और त्याग तपस्या की भयानक परीक्षा अन्त में वे सुखवंचित रूप में मिलते हैं। जमाने से शिकायत रहती है। ईश्वर, प्रियतम से भी। त्रासदी के अर्थ मौजूद रहते हैं। वे हमदर्दी चाहते हैं। ये हमदर्दी हमसे तदाकार करती है। हमारे जीवन और उनके अभाव में समानता। समूचा रस सिद्धान्त इसी प्रकार सम्भव होता है। गीतों में विलाप प्रकृति की मौजूदगी में भू-दृश्य, लता, पेड़, नदी इत्यादि प्रतीकात्मक होते हैं जो विलाप को*

घटाते और बढ़ाते हैं। वे संचारियों की तरह आते-जाते हैं।"[21]

आगे वे गीतों के बदलाव की पृष्ठभूमि को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि विषाद को ढँकने की कोशिश कई बार अतिशय ह्रास के रूप में दिखाई देती है और यह विषाद भारत राष्ट्र राज्य में घरेलू दशहत की छाया है। केवल तकनीकी परिदृश्य में गीतों की प्रस्तुतियों के प्रस्तुतीकरण को देखना नाकाफ़ी होगा। मनुष्यता की जरूरतों का उपभोक्ता की जरूरतों में बदलना भी एक बड़ा कारक है। पहले गीत अभिनय का हिस्सा थे, अब वे एक्शन हैं। पहले गीत कथा के बन्धन में रहते थे, इसलिए भावस्थिति के अनुकूल नौशाद, रोशन, मदनमोहन, एस० डी० बर्मन आदि धुनें बनाया करते थे। अब गीत स्वतन्त्र हैं। वे अपने-आप में दृश्यबन्ध हैं। स्वतन्त्र, स्वायत्त वे अपना वजूद खुद रखते हैं। हम पाते हैं कि नई फिल्मों के गीतांकन में देह एक बड़ी भूमिका निभाने लगी है। नाट्यशास्त्रीय पदावली में इसे आंगिक या कायिक अभिनय की श्रेणी में रखा जा सकता है लेकिन उसके समूचे रूप उस पदावली में नहीं अँटते। नाट्य शास्त्रीय पदावली में आंगिक भीतरी भाव (सात्त्विक) का व्यक्त रूप हैं, लेकिन साम्प्रतिक देहवाद में भीतरी सात्त्विक विभाजन की कोई जगह नहीं है। कल तक जो देह भाव या विचार या कर्म व्यक्त करने का माध्यम थी, अब स्वयं कर्म बन गई है। हमारे नायक-नायिका अब देह को एक 'रूप' देते हैं और वही 'रूप' एक्शन भी करता है। देह द्वारा आत्मा की अभिव्यक्ति अब नहीं है। देह साधन नहीं, साध्य है।[22]

प्रसिद्ध रंगकर्मी मेलिस तो सिनेमा को एक प्रकार का थिएटर ही मानते थे तथा अपना शॉट रंगमंच की भाँति एक खास फासले से ही लिया करते थे। प्रसिद्ध फिल्मकार ग्रिफिथ भी थिएटर से ही फिल्मों में आए थे। थिएटर और फिल्म निर्माण की व्यवहार शैली एक-दूसरे से बिल्कुल जुदा हैं। रंगमंच पर कलाकार के पास प्रदर्शन की पुनरावृत्ति का अवसर नहीं होता जबकि फिल्मों में रीटेक दिए जा सकते हैं। इसलिए रंगमंग के पूर्वाभ्यास में ज्यादा मेहनत की माँग की जाती है। हिन्दी फिल्म जगत में नसीरूद्दीन शाह, शबाना आज़मी, ओम पुरी, अनुपम खेर, ए० के० हंगल, पंकज कपूर, दिनेश ठाकुर, पीयूष मिश्रा, जया बच्चन, परेश रावल, सचिन खेड़ेकर, दिव्या दता, गोविन्द नामदेव, रंजीत कपूर, राजपाल यादव, मनोज वाजपेयी जैसे कलाकारों की रंगमंच और सिनेमा में बराबर आवाजाही रही है। कई फिल्मी कलाकार फिल्मों में स्थापित होने के बावजूद चुनौतीपूर्ण अभिनय और आत्म-सन्तुष्टि के लिए भी रंगमंच से जुड़ना पसन्द करते हैं। स्टार आकर्षण के कारण रंगमंच के दर्शकों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। यद्यपि कई रंगकर्मी इस बदलाव को नापसन्द करते हैं और फिल्मी अदाकारों के रंगमंच करने का विरोध भी करते हैं, बावजूद इसके इससे इनकार नहीं किया जा सकता है कि फिल्मी सितारों का आकर्षण थिएटर का विस्तार प्रबुद्ध वर्ग से साधारण जनता तक करने की क्षमता रखता है। हिन्दी फिल्में अपनी संगीत प्रधानता और सनसनीखेज संवादों के लिए जानी जाती हैं और वैश्विक सिनेमा के मानदंडों पर इस हेतु महत्त्वहीन साबित की जाती रही हैं। हिन्दी फिल्मों की संगीत केन्द्रिता भारतीय जीवन के उस रसास्वादन की प्रवृत्ति और गेय आस्वाद्यता का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसे काव्य मर्मज्ञों ने 'सहृदय' अनुभावक और रस सिद्धान्त के जरिए शब्दबद्ध किया। इसके अतिरिक्त हिन्दी फिल्मों में गेय स्वरूप का वर्चस्व हमारी वैदिककालीन श्रुति परम्परा और लोकधर्मी नाट्यवृत्तियों से भी आगत है जहाँ पर लेखन परम्परा ऊपर स्मरणीयता के कारण मौखिक परम्परा को ज्यादा महत्त्व दिया गया।

अधिकांश विद्वानों ने उत्तर-आधुनिक युग में मेलोड्रामा को तीसरी दुनिया की विधा का दर्जा दे दिया है जिसके साथ पश्चिमी जगत की बौद्धिक कला फिल्मों के मानदंडों की साँठ-गाँठ भी बराबर जिम्मेदार है। परन्तु मेरा मानना है कि मेलोड्रामा के तत्त्व प्रत्येक देश की फिल्मों में मौजूद है जब तक कि परीकथा और राजा-रानियों के किस्से बरकरार रहेंगे तब तक मेलोड्रामा का अस्तित्व भी बना रहेगा। मेलोड्रामा सम्बन्धी भारतीय अध्येताओं ने कहीं इससे सांस्कृतिक विरासत का अंग मानकर 'डिफेंड' करने की कोशिश की है तो किसी ने दर्शकीय अभिरुचि से जोड़कर पॉपुलर कल्चर के अध्ययनों के दायरे में लाने की कोशिश की है। कई इसे सस्ते मनोरंजन और बड़े मुनाफे की रणनीति मानते हैं तो कुछ इसे हिन्दी फिल्मों की फॉर्मूलाबद्धता और बौद्धिक दिवालिएपन से जोड़कर मार्क्सवाद, स्त्रीवाद, सेक्यूलरवाद के पश्चिमी चशमे से परखने की कोशिश करते हैं। मेरा निजी विचार है कि मेलोड्रामा पर सांस्कृतिक-सामाजिक अस्मिता के पहलू से सोचने की दरकार है और साथ ही यह उस सांस्कृतिक राष्ट्रवादी परियोजना का भी विस्तार है जिसमें परिवार केन्द्रित मेलोड्रामा फिल्मों के जरिए देसी दर्शकों के साथ प्रवासी भारतीयों को रिझाने की कोशिश की जाती है।

सन्दर्भ

1. 'Home is where the Heart is', Christine Gledhill (ed.), BFI Publishing, . London,1987, pp. 5–14.
2. *Melodrama and Asian Cinema,* Wimal Dissanayake (ed.),.Cambridge University Press, Cambridge, 1995, pp. 3.
3. *नाट्यशास्त्र विश्वकोश,* राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण,1999, दिल्ली, पृ.165
4. वही, पृ.158
5. *नाट्यशास्त्र विश्वकोश,* उपर्युक्त, पृ.179
6. *संस्कृत साहित्य का इतिहास,* बलदेव उपाध्याय., हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, 1958, पृ. 445
7. *सौदर्यशास्त्र: पाश्चात्य एवं भारतीय परम्परा,* ममता चतुर्वेदी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2011, झालाना सांस्थानिक क्षेत्र, जयपुर-302004, पृ. 206
8. वही, पृ.214
9. *Indian Popular Cinema: A Narrative of Cultural Change,* K. Moti Gokulsing and Wimal Dissanayake, Trentham Books, London, 1998, p. 23.
10. *सिनेमा की संवेदना,* विजय अग्रवाल, प्रतिभा प्रतिष्ठान नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1995) पृ. 11
11. श्याम माथुर, *सिने पत्रकारिता,* (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 2008), पृ. 151
12. *Film and Fiction: Word into Image*, cited above, Foreword P-X
13. *सिने पत्रकारिता,* उपर्यक्त, पृ. 151
14. *सिने पत्रकारिता,* उपर्युक्त, पृ. 165
15. *बालीवुड पाठ: विमर्श के सन्दर्भ,* ललित जोशी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2012
16. *सिनेमा की संवेदना,* उपर्युक्त, 12-13
17. वही, पृ. 25
18. Indian Films, E. Barnouw and S.Krishnaswamy , Oxford University Press,1982, P-72
19. *सिनेमा की संवेदना,* उपर्युक्त, पृ. 12
20. *Global Bollywood,* Sangita Gopal & Sujata Moorti, Orient Blackswan Ltd. 2008, P-2
21. 'मुक्त देह के आखेट', सुधीश पचौरी,*अश्लीलता का हमला,* राजकिशोर (सं), आज के प्रश्न-12, प्रथम संस्करण, वाणी प्रकाशन 1998, पृ. 15
22. वही, पृ. 16 ।

'प्रसाद के नाटकों में अभिव्यक्त राष्ट्रवादी चेतना

डॉ. दयाल प्यारी सिन्हा
दयालबाग़ एजुकेशनल इन्स्टीट्यूट
दयालबाग़, आगरा

जब जयशंकर प्रसाद ने नाट्य-सृजन आरम्भ किया था तब भारत परतन्त्रता की बेड़ियाँ तोड़ने के लिए संघर्ष कर रहा था इसलिए उन्होने अपने नाटकों के माध्यम से उदात्त राष्ट्रीय भावना को अभिव्यक्त किया। उनके नाटकों का मूल आधार राष्ट्रीयता है। प्रसाद के नाट्य-सृजन एवं तत्युगीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखते हुए कहा जा सकता है कि उस युग में अंग्रेजों का साम्राज्य था। क्रान्तिकारी साम्राज्यवादी शक्तियों से लड़ रहे थे। प्रथम महायुद्ध के दुष्परिणामों को भोगती हुई भारतीय जनता निराशावादी हो चुकी थी। इन कठिन परिस्थितियों में कांग्रेस के नेतृत्व व गाँधीजी के मार्गदर्शन में विदेशी शक्तियों के विरुद्ध स्वतन्त्रता आन्दोलन गति पकड़ रहा था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के इस महान यज्ञ में प्रसाद ने भी अपना अमूल्य योगदान किया। उन्होंने भारत के गौरवशाली अतीत के माध्यम से नवनिर्माण का सन्देश दिया। उन्होंने अपने नाटकों में इतिहास की इतिवृत्तात्मकता के पिष्टपेषण की बजाय युगीन यथार्थ को अभिव्यक्त किया है। इस सन्दर्भ में आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने लिखा है- ''प्रसाद जी के नाटकों की एक अन्य विशेषता है उनका देश-प्रेम सम्बन्धी भाव, जिसे उन्होंने अतीत का आधार लेकर अंकित किया है।... उन्होंने सुदूर अतीत के पात्रों को भी स्थान दिया है और वहाँ भी पौराणिक की अपेक्षा ऐतिहासिक युगों की घटनाओं का चयन किया है। उनके नाटकों में अतीत-युग की भारतीय वीरता और संस्कृति की इतिहाससम्मत व्याख्याएँ और चित्र मिलते हैं।''[1]

प्रसाद के मन में देश के गौरवशाली अतीत एवं संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम था। उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से राष्ट्र-प्रेम का पाठ पढ़ाया। सांस्कृतिक पुनरुत्थान की आकांक्षा एवं राष्ट्रीयता का आग्रह उनके नाटकों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। उनकी प्रारम्भिक एकांकियों ('सज्जन', 'कल्याणी परिणय', 'करुणालय', 'प्रायश्चित' एवं 'एक घूँट') के अलावा उनके प्राय: सभी नाटकों में राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक मूल्यबोध विद्यमान है।

'राज्यश्री' प्रसाद का प्रारम्भिक नाटक है। इस नाटक का घटनातंत्र षड्यन्त्र, रक्तपात, हत्या, अनैतिक आचरण आदि से निर्मित है किन्तु प्रसाद ने ऐसे विषम परिवेश के भीतर मानवीय मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास किया है। इस नाटक में वीर युवती राज्यश्री आर्य संस्कृति की प्रतीक है। उसके चरित्र को आधार बनाकर उदात्त मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा की गई है। उसका चरित्र गाँधीवादी अहिंसा, क्षमा, लोककल्याण आदि के लिए सर्वस्व समर्पित कर देने की भावना को अभिव्यक्त करता है। नाटक में राज्यश्री अपने सात्विक गुणों द्वारा हर्षवध न की प्रतिहिंसा को शान्त करती है, जिसके फलस्वरूप राज्यवर्धन के हत्यारों को क्षमा मिलती है एवं हर्षवध न लोकसेवा के पथ पर अग्रसर होते हुए कहता है- ''मैं अकारण दूसरों की भूमि हड़पने वाला दस्यु नहीं हूँ। यह एक संयोग है कि कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक, काश्मीर से लेकर रेवा तक एक सुव्यवस्थित राष्ट्र हो गया। मुझे और न चाहिए। यदि इतने ही मनुष्यों को सुखी कर सकूँ-राजधर्म का पालन कर सकूँ तो कृतकृत्य हो जाऊँगा।''[2] अहिंसा एवं क्षमा का यह सन्देश प्रसाद पर गाँधीवादी चिन्तन के प्रभाव को दर्शाता है। उपरोक्त कथोपकथन द्वारा एक राजा के दायित्वों पर प्रकाश डालते हुए प्रसाद ने युद्ध की नीति का विरोध किया है एवं गाँधीवादी चिन्तन पर आधारित राजधर्म का आदर्श प्रस्तुत करते हुए युग-धर्म का निर्वाह किया है।

प्रसाद के 'विशाख' नाटक का आधार संस्कृत का प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' है। इस नाटक में एक सामान्य सी प्रेमकथा द्वारा प्रसाद ने देश की तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधाान करने का प्रयास किया है तथा वर्तमान स्थितियों में शासक व जनता के संघर्ष को दिखाकर जनशक्ति की विजय की घोषणा की है। इस नाटक में प्रसाद ने नरदेव के अत्याचारों के रूप में ब्रिटिश शासकों के अत्याचारों का चित्रण किया है और प्रेमानन्द के रूप में महात्मा गाँधी को दर्शाया है। स्वतन्त्रता आन्दोलन

में गाँधीजी का मुख्य अस्त्र अहिंसा था। 'विशाख' में प्रसाद ने प्रेमानन्द के द्वारा अहिंसा की संस्तुति की है- "देश की शान्ति भंग करना और निरपराधों को दुख देना, इससे तुम्हें क्या मिलेगा ? देखो सावधान हो, इस उत्तेजना राक्षसी के पीछे न पड़ो, एक अपराध के लिए लाखों को दण्ड न दो। हरी-भरी भूमि के लिए पत्थर वाले बादल न बरसे अन्यथा पीछे पछताओगे।''[3] इस नाटक में प्रेमानन्द गाँधीजी के सत्य, अहिंसा, क्षमा एवं विश्वशान्ति के सन्देश की संस्तुति करता है। जिस प्रकार गाँधीजी अत्याचारी ब्रिटिश शासको के विरुद्ध भारतवासियों को सत्य एवं अहिंसा के द्वारा संघर्ष करने का सन्देश दे रहे थे उसी प्रकार इस नाटक में प्रसाद ने प्रेमानन्द के माध्यम से गाँधीजी के विचार-दर्शन को अभिव्यक्ति दी है।

प्रसाद के 'अजातशत्रु' नाटक मे बौद्ध कालीन भारत का चित्रण किया गया है। नाटक में मगधा, कौशाम्बी आदि जनपदों में व्याप्त सत्ता-संघर्ष, हिंसा, यौद्ध आदि का चित्रण प्रसाद का अभीष्ट नहीं है वरन् गाँधी युग की चेतना को ऐतिहासिक सन्दर्भों में चित्रित करना इस नाटक का केन्द्र बिन्दु है। इस नाटक में गौतम बौद्ध द्वारा दिए गए अहिंसा, करुणा, क्षमा आदि के सन्देश को स्पष्टतः सुना जा सकता है। 'विशाख' में जहाँ प्रेमानन्द गाँधीवादी चिन्तन को अभिव्यक्त करता है वहीं 'अजातशत्रु' में गौतम बौद्ध गाँधीवादी मूल्यों की संस्तुति करते हुए कहते हैं-"विश्व भर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है-जो प्राणिमात्र में समदृष्टि रखती है।''[4]

'अजातशत्र' में चित्रित ब्रिटिश साम्राज्यविरोधी चेतना इस नाटक को प्रासंगिक बना देती है। इस नाटक के माध्यम से प्रसाद ने देशवासियों को अत्याचारी ब्रिटिशशासक के विरुद्ध आवाज़ उठाने की प्रेरणा प्रदान की है-''मानव की अपनी इच्छाशक्ति से और पौरुष से ही कुछ होता है, जन्मसिद्ध तो कोई भी अधिकार दूसरों के समर्थन का सहारा चाहता है। विश्व भर में छोटे से बड़ा होना यही प्रत्यक्ष नियम है। तुम इसकी क्यों अवहेलना करते हो ? महत्त्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्नि कुंड में कूदने के लिए प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियों का दमन करने के लिए कालस्वरूप बनो, साहस के साथ उनका सामना करो, फिर या तो तुम गिरोगे या वे ही भाग जाएँगी।''[5]

'कामना' प्रसाद द्वारा लिखा गया एक प्रतीक नाटक है। इस नाटक में भोगवादी संस्कृति के दुष्परिणामों का चित्रण किया गया है। प्रसाद ने भारतीय संस्कृति एवं अध्यात्मवाद की प्रतिष्ठा के लिए इस नाटक में पात्रों का प्रतीकात्मक रूप में चित्रण किया है। नाटक में कामना मानव मन की कामना है। वह सन्तोष के कठिन मार्ग को त्यागकर विलास के आकर्षक मार्ग पर चल देती है। जब वह विलास एवं लालसा के कारण विवेक को भी त्याग देती है तब लोभ, अहंकार, हिंसा आदि का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। तब विवेक उसे धिक्कारता है तथा सन्तोष उसे कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करता है, जिसके परिणामस्वरूप कामना सही राह पर चल देती है। यह नाटक बताता है कि कामना के मार्ग से भटकते ही मानव का नैतिक पतन होने लगता है। यही भोगवाद है, जिसके कारण भारतीय संस्कृति विनाश की ओर अग्रसर हो रही है। इस प्रकार प्रसाद ने 'कामना' में मानव मन की प्रवृत्तियों के सकारात्मक विकास को महत्त्व दिया है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक में प्रसाद ने उत्तरमहाभारत काल के संघर्ष युग को चित्रित किया है। इस नाटक में आर्य एवं नाग जाति के संघर्ष को प्रस्तुत किया गया है, जिसका अन्त नाग कन्या मणिमाला तथा आर्य सम्राट जनमेजय के विवाह से होता है। इस नाटक के माध्यम से प्रसाद ने भारतवासियों को जातीय एकता तथा साम्प्रदायिक सद्भाव की स्थापना का सन्देश दिया है। इस नाटक में मनसा नामक नाग युवती जातीय संकीर्णता के कारण आर्य जाति के प्रति विद्वेष की भावना रखती है। वह आर्य जाति के प्रति नागों के मन में विष भरते हुए कहती है-

"क्या सुना नहीं कुछ अभी पड़े सोते हो,
क्यों निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो,
प्रतिहिंसा का विष तुम्हें नहीं चढ़ता क्या !
जब दर्प भरा अरि चढ़ा चला आता है,
तब भी तुममें आवेश नहीं आता है,
जातीय मान के शव पर क्यों रोते हो,
क्यों निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो।''[6]

इस नाटक में सरमा एक ऐसी पात्र है, जो नाग एवं आर्य जातियों में एकता स्थापित करती है। प्रसाद ने उसके माध्यम से जातीय एकता की स्थापना एवं साम्प्रदायिक हिंसा को समाप्त करने का सन्देश दिया है। इस अर्थ में वह गाँधी जी का प्रतीक कही जा सकती है।

राष्ट्रीय सन्दर्भों की दृष्टि से प्रसाद का 'स्कन्दगुप्त' भी एक महत्त्वपूर्ण नाटक है। इस नाटक में प्रसाद की राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति व्यापक स्तर पर हुई है। नाटक का नायक स्कन्दगुप्त विषम परिस्थितियों से घिरा हुआ है। वह तत्युगीन भारतीय जनमानस का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें अपने अधिकारों के प्रति गहन उदासीनता विद्यमान है। पर्णदत्त उसे प्रजा की रक्षा एवं अपने अधिकारों का उपयोग करने की प्रेरणा प्रदान करता है। प्रसाद स्कन्दगुप्त की उदासीनता में भी राष्ट्र के कल्याण के लिए उसे कर्मपथ की ओर अग्रसर करते हैं। वह प्रजा पालन के प्रति अपने विचार अभिव्यक्त करते हुए कहता है- ''आर्य ! इस गुरुभार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूँ और आर्य-राष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूँ, आप लोग इसके लिए भगवान से प्रार्थना कीजिए और आशीर्वाद दीजिए कि स्कन्दगुप्त अपने कर्त्तव्य से, स्वदेश-सेवा से कभी विचलित न हो।''[7]

'स्कन्दगुप्त' नाटक के गीत हिन्दी के राष्ट्रीय गीतों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन गीतों में देशवासियों की रग-रग को जाग्रत करने की शक्ति एवं उनमें उत्साह उत्पन्न करने की अद्भुत क्षमता विद्यमान है-

"बजा दो वेणु मनमोहन! बजा दो।
हमारे सुप्त जीवन को जगा दो।
विमल-स्वातन्त्र्य का बस मन्त्र फूँको,
हमें सब भीति-बन्धनों से छुड़ा दो।"[8]

प्रसाद ने अपने अगले नाटक 'चन्द्रगुप्त' की कथा का आधार भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग मौर्य युग को बनाया है। चन्द्रगुप्त का शासन-काल भारत का स्वर्ण युग था। इस नाटक का वैशिष्ट्य चन्द्रगुप्त व चाणक्य के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से है। चाणक्य प्रसाद की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना का केन्द्रीय बिन्दु है। वह सम्पूर्ण राष्ट्र को एक अखण्ड इकाई के रूप में देखने का इच्छुक है। स्वतन्त्रता के विषय में उसका मत है-''स्मरण रखना होगा कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को स्वतन्त्र उत्पन्न किया है। परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधा न पड़े, यही राष्ट्रीय नियमों का मूल है।''[9]

'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद ने राष्ट्रीयता के साथ ही विश्व-प्रेम का सन्देश भी दिया है। नाटक की मुख्य नारी पात्र अलका का चरित्र नाटक में स्वतन्त्रता आन्दोलन को नई दिशा प्रदान करता है। उसका चरित्र राष्ट्रप्रेम के प्रति समर्पित है। तक्षशिला में उसके द्वारा गाया गया जागरण गीत राष्ट्रीय आन्दोलन में स्त्रियों के नेतृत्व करने की शक्ति का सन्देश देता है-

"हिमाद्रि तुगशृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती।
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञा सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।''[10]

राष्ट्रीय प्रेम के सन्दर्भ में 'चन्द्रगुप्त' नाटक के गीत भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय अस्मिता की श्रेष्ठता को प्रदर्शित करने के लिए प्रसाद ने ग्रीस देश की राजकुमारी कार्नेलिया द्वारा भारत भूमि की प्रशंसा करवाई है। कार्नेलिया भारत के वैभव एवं ज्ञान से आश्चर्यचकित होकर उसकी प्रशंसा करते हुए गाती है-

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।''[11]

कार्नेलिया भारतीय संस्कृति के मूल्यों एवं प्राकृतिक सौन्दर्य से अत्यधिक प्रभावित होती है। वह भारत से अपनी जन्मभूमि के समान स्नेह करती है- "मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुए शैल-श्रेणी, हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीतकाल की धूप और भोले कृषक तथा सरल कृषक बालिकाएँ, बाल्यकाल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ हैं। यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि भारतभूमि क्या भुलाई

जा सकती है ? कदापि नहीं। अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि हैं, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।''[12]

प्रसाद के अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के साथ प्रगतिशील मूल्यों को भी चित्रित किया गया है। ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में नारी चेतना के जागरण का स्वर सुनाई देता है। नाटक की तीनों नारी पात्रों-ध्रुवस्वामिनी, कोमा एवं मन्दाकिनी के माध्यम से नारी-मुक्ति की समस्या को अभिव्यक्त किया गया है। नाटक के अन्त में प्रसाद ने धर्मशास्त्र के अनुरूप रामगुप्त जैसे क्लीव, कायर एवं मद्यप पति से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष (तलाक) की व्यवस्था करवाई है। राजपुरोहित भी नारी मुक्ति का समर्थन करते हुए कहता है- ''जिसे अपनी स्त्री को दूसरे की अंकगामिनी बनने के लिए भेजने में कुछ संकोच नहीं, वह क्लीव नही तो और क्या है ? मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।''[13] इस नाटक में ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से नारी के अधिकारों का प्रश्न उठाया गया है तथा उसके समाधान के लिए भारतीय सामाजिक परिस्थितियों में धर्मशास्त्र, नीति आदि के तर्क प्रस्तुत किए गए हैं, जिससे ध्रुवस्वामिनी की समस्या व्यक्तिगत समस्या न रहकर सामाजिक, नैतिक एवं मानवीय समस्या बन जाती है।

सार रूप में कहा जा सकता है कि प्रसाद ने अपने नाटकों के द्वारा राष्ट्रीय एकता का उद्घोष किया है। उनके नाटक राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत होने के कारण राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक गौरव को प्रतिपादित करते हैं। उनके प्रत्येक नाटक के मूल में राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा का भाव निहित है। ''उन्होंने इतिहास को नाट्याभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम बनाया, ऐसा इतिहास जिसमें भारतीयों के वैभव, वीरत्व और पराक्रम के अपूर्व उदाहरण थे और विदेशियों के पराभव की गाथा थी। इन ऐतिहासिक कथानकों द्वारा धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, सुन्दर-असुन्दर, हर्ष-विषाद, विजय-पराजय से युक्त मानव जीवन का चिरन्तन स्वरूप प्रस्तुत किया, भारतीयों के आगे मँडराते हुए विदेशी धुएँ को हटाने के लिए इतिहास के पृष्ठ खोलकर अप्रत्यक्ष रूप में ही उस युग की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया, राष्ट्रीय जागरण का ही नहीं, मानवतावाद का शाश्वत आदर्श प्रसारित किया।''[14] उनके नाटकों में चित्रित घटनाएँ एवं चरित्र वर्तमान समय में भी नवीन दिशा प्रदान करने में समर्थ हैं इसी कारण प्रसाद द्वारा रचित नाटक आज भी प्रासंगिक हैं।

सन्दर्भ

1. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी- जयशंकर प्रसाद, पृ. 152-53
2. जयशंकर प्रसाद-राज्यश्री, पृ. 56
3. जयशंकर प्रसाद-विशाख, पृ. 64
4. जयशंकर प्रसाद-अजातशत्र, पृ. 29
5. वही, पृ. 54
6. जयशंकर प्रसाद-जनमेजय का नागयज्ञ-तीसरा अंक, तीसरा दृश्य
7. जयशंकर प्रसाद-स्कन्दगुप्त, पृ. 65-66
8. वही, पृ.123
9. जयशंकर प्रसाद-चन्द्रगुप्त, पृ.173
10. वही, पृ.160
11. वही, पृ.86
12. वही, पृ.121
13. जयशंकर प्रसाद-ध्रुवस्वामिनी, पृ. 64
14. गिरीश रस्तोगी-हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष, पृ. 30

शिवमूर्ति की कहानियों में सामाजिक यथार्थ

बीना मीना
सहायक प्रोफेसर
पीजीडीएवी कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

उत्तर भारत के ग्रामीण जनजीवन, किसानों, मजदूरों, स्त्रियों तथा दलितों की दयनीय स्थिति, शोषण एवं दमन को प्रभावित ढंग से चित्रित करने वाले कथाकार शिवमूर्ति का साहित्य से परिचय स्कूल जाने से भी पहले पिता के मुख से सुने गए रामचरित मानस के अंश, कवितावली, विनयपत्रिका, हनुमान बाहुक तथा कबीर के पदों के रूप में हुआ। बचपन में देखे गए नाटक व नौटंकी के संवाद और उसकी कथा के रोमांच ने कहानी विध की ओर आकृष्ट किया।

ि शवमूर्ति का रचनाक्षेत्र तथा कर्मक्षेत्र दोनों ही ग्रामीण क्षेत्र रहा है। इसे केन्द्रित करके इनका कथाकार मन दूर-दूर तक मंडराता रहा है। गांव के रीति-रिवाज, ईर्ष्या-द्वेष, राग-विराग, जड़ो में धंसे संस्कार, प्रकृत यौन-बुभुक्षा, पर्त-दर-पर्त उजागर होता वर्णवादी-वर्गवादी शोषण, मूल्यहीन राजनीति और इनके बीच भटकती लाचार जिन्दगियाँ तथा संघर्षशील नारी पात्रों का सजीव अंकन इनकी रचनाओं में मिलता है। इनका सम्बन्ध खेतीहर परिवार से रहा है। इसीलिए इन्होंने गाँवों में भूमिहीन किसान, दलितों का शोषण, नारी की दयनीय स्थिति तथा मजदूरों की शोचनीय अवस्था को प्रत्यक्ष रूप से देखा है। ग्रामीण जनता तथा उसकी विविध समस्याओं से शिवमूर्ति का निकट का सम्बन्ध रहा है। वे ग्रामीणों के मनोविज्ञान से भली-भांति परिचित है। शिवमूर्ति अपने उपन्यासों तथा कहानियों में ग्रामीण जीवन का बड़ा ही सजीव चित्रण करते हैं। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसके पीछे उसका अनुभव निहित है, इसलिए उसकी सच्चाई पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करती है। इसी सन्दर्भ में उर्मिला शिरीष लिखती हैं- ''शिवमूर्ति मनुष्य के मनोविज्ञान को बखूबी समझते हैं। मन की पकड़ है उन्हें और आसपास की परिस्थितियों का अनुभव भी किसी भी कहानी में उस परिवेश का चप्पा-चप्पा जैसे उनका देखा हुआ और जिया हुआ लगता है।''[1]

शिवमूर्ति की कथाओं में अवध की ग्रामीण संस्कृति का बहुरूपी और गहरा अंकन मिलता है जो कहानियों से लोक के विलोपन की मुहिम को अपने बल पर स्थगित भी करता है। पर ग्रामीण जीवन केवल प्रति और ऋतुओं पर केन्द्रित ने होकर मुख्य रूप से ग्रामीण जनों की कठिन स्थितियों ओर संघर्षों के माध्यम से व्यक्त होता है। शिवमूर्ति की कहानियां इसलिए भी सफल दिखती है क्योंकि पात्रों की भीड़ नहीं खड़ी करती है और न स्थितियों और प्रसंगों के अम्बार। ग्रामीण समाज जो जातीय आधार, आर्थिक आधार और उच्च तथा निम्नवर्ग में बंटा हुआ है। इस समाज में दलितों का दलित होने के कारण शोषण हो रहा है। किसानों की उनकी उपज का उचित मूल्य नहीं मिल पा रहा है। पुलिस-प्रशासन तथा अन्य सरकारी विभाग अपना दायित्व उचित प्रकार से नहीं निभा रहे है, जिससे ग्रामीण जनता प्रताड़ित हो रही है। मजदूरों को उनकी मजदूरी का उचित मूल्य नहीं मिल रहा है। ये ही समस्याएँ इनकी कहानी तथा उपन्यासों के विषय रहे हैं। गांव का दलित वर्ग आर्थिक रूप से कमजोर है। प्राचीनकाल से ही इस वर्ग पर अत्याचार होते चले आ रहे हैं। अपनी कमजोर आर्थिक स्थिति तथा शिक्षा के अभाव और अंधविश्वासों की जकड़न के कारण यह वर्ग पददलित रहा है।

शिवमूर्ति की कहानियों में ग्रामीण जीवन की विषमताएं और अंतर्विरोध अपने नग्न यथार्थ के रूप में अभिव्यक्ति पाते हैं। जहां जाति-व्यवस्था की गहरी जड़े मानवीय सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न करती दिखाई देती है। आधुनिक हिन्दी कहानियों में जहाँ नगरीय एवं महानगरीय जीवन की समस्याओं और उसके जीवन को हर पहलू से उजागर करने की होड़ मची हुई हैं, वहाँ उत्तर भारत के गाँवों' को समग्रता से प्रस्तुत करने वाला कहानी-संग्रह 'केसर-कस्तूरी' मन को विमुग्ध कर जाता है। यह कहानी-संग्रह उन गाँवो की जीवंत सैर करा

देता है जो गाँव अभी तक शहरी पाठक के लिए मात्र कपोल कल्पना रहे हैं। ये कहानियाँ आज के ज्वलंत विषय-स्त्री विमर्श से सराबोर है। इनकी कहानियों की स्त्री अपने परिवेश से समझौता करने के स्थान पर अपने जीवन की अंतिम साँस तक जूझती है, यह बात 'अकाल दण्ड', 'सिरी उपमा जोग', 'तिरिया चरित्तर' तथा केसर-कस्तूरी' में विशेष रूप से देखी जा सकती है। कहानियों में पाई जाने वाली यह बात कहानीकार की प्रगतिशील मानसिकता का परिचायक बन जाती है। इनकी 'कसाईबाड़ा' नामक कहानी हमारे सामने ग्रामीण नेता तथा प्रधान के शोषण का सच्चा चित्र प्रस्तुत करती है। एक ओर गांव का प्रधान है जो पैसों के लालच में गाँव की लड़कियों का सामूहिक विवाह कराने की आड़ में सौदा कर देता है, जिसमें उसकी अवैध संतान रूपमती भी शामिल है तो दूसरी ओर लीडर है जो ऊपर से तो ग्रामीणों का हितैषी बनता है लेकिन उसके अन्दर भी छल-कपट भर होता है। वह चुनाव पास आने पर ग्रामीणों को प्रधान के खिलाफ भड़काता है। शनिचरी से प्रधान के विरोध में आमरण अनशन कराता है। लेकिन लीडर का उद्देश्य शनिचरी को इंसाफ दिलाना नहीं है वह तो शनिचरी के माध्यम से ग्रामीणों को अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है ताकि उसे चुनाव में सफलता मिल सके। प्रधान अपने विरोध में उठ रही शनिचरी की आवाज को दूध में जहर देकर शांत कर देता है तो दूसरी ओर लीडर उससे धोखे से सारी सम्पत्ति अपने नाम लिखा लेता है। गरीब आदमी का शोषण हर कोई करना चाहता है चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से करे या अप्रत्यक्ष रूप से। लेखक ने अधरंगी के रूप में ग्रामीणों में उत्पन्न विद्रोह को चित्रित किया है पर वह विद्रोह भी अधरंगी की भांति अपाहिज है। उसकों भी खड़ा होने के लिए सहारे की आवश्यकता है। क्योंकि पुलिस-प्रशासन भी तो नेताओं व प्रधानों के साथ शोषण पर उतारू है।

'भरतनाट्यम' कहानी में एक और त्रासदी पढ़ने को मिलती है। बेरोजगार युवक का परिवार में कितना अपमान हो सकता है और उससे कितनी अपेक्षाएं की जाती हैं कि उसका अपना मन, उसकी अपनी इच्छाएं उसके अपने सिद्धांत कोई मायने नहीं रखते हैं। माता-पिता, भाभी सबका व्यवहार बदल जाता है सिवा पत्नी के। पत्नी की अपनी इच्छाएं हैं जिनको पूरा न कर पाने का अपराधबोध उसे निरन्तर होता है। लेकिन नौकरी लगते ही उसका मान-सम्मान बढ़ जाता है। पिता पूरे गांव में उसके गुणों का बखान करते हैं लेकिन सचिवालय में नौकरी करते हुए ज्ञान का मन बॉस की चापलूसी नही कर पाता है। एक दिन बॉस से कहासुनी हो जाती है और वह उसकी नाक पर मुक्का मार देता है परिणाम स्वरूप उसको नौकरी से निकाल दिया जाता है। नौकरी छूटने के बाद सलाहकार लोग सलाह देते कि व्यवसाय कर लेना चाहिए। व्यवसाय में जो भी करना पड़े उसके लिए वह तैयार होता है ताकि जीवन की तमाम इच्छाओं को पूरा कर सके। इस कहानी की एक घटना झकझोर देती है कि वह जब अपनी पत्नी को अपने बड़े भाई के साथ देख लेता है। तब भी वह सोचता है कि- ''इस तरह के छिटपुट यौन सम्बंधों को मैं गम्भीरता से नहीं लेता। इसे मेरा दमित-पुंसत्व कहिए या लिबरल आउटलुक। मैं पाप-पुण्य, जायज-नाजायज, पवित्र-अपवित्र और सतीत्व-असतीत्व के मानदण्डों से भी सहमत नहीं हूँ। मांगकर रोटी खा ली, या कामतुष्टि पा ली एक ही बात है।''[2]

इतना ही नहीं जब उसकी पत्नी सलील के साथ भाग जाती है तब भी उसका खून नहीं खौलता है बल्कि वह सोचता है कि बेटे की चाह रखने वाली पत्नी की जब खबर लगेगी तो वह खिलौने भेज देगा लेकिन ये तमाम परिस्थितियाँ कैसे आदमी को पागल बना देती है इसका एहसास उसे होता है तभी वह खरबूजे के खेत में भरतनाट्यम शुरू कर देता है। ये वो समय था जब परम्परा, परिवार, मूल्य, आदर्श और पवित्रता की धारणाएं टूट रही थी। आदमी अपने ढंग से जीने की छटपटाहट में था। मैं शैली में लिखी यह कहानी मध्यवर्गीय परिवारों के यथार्थ को उसके भीतरी सत्य को अद्भूत ढंग से अभिव्यक्त करती हैं।

'सिरी उपमा जोग' कहानी में भारतीय पुरुष की मानसिकता, दब्बूपन, अपने परिवेश से भागकर शहरी जीवन में रच-बस जाने की ललक और अपने लोगों को त्याग देने की निर्दयता का बेहद मार्मिक और प्रभावशाली चित्रण हुआ है। एक पत्नी अपने पति को अफ़सर बनाने के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर देती है। वह स्वयं खेतों में काम करती है ताकि पति अपनी पढ़ाई पूरी कर सके। अपने गहने बेचकर पुस्तकों की व्यवस्था करती है। स्वयं बासी रोटी खाती है और पति को ताजा रोटी बनाकर खिलाती है। लालू की माई निरक्षर है लेकिन आशा और आत्मविश्वास की मूर्ति है।

परन्तु पति के ए.डी.एम. बन जाने पर उसकी रुचि अपने गाँव तथा परिवार में नहीं रहती है। अपनी मेहनत और परिश्रम से उसे इस स्थान तक पहुँचाने वाली पत्नी के शरीर से उसे भूसे जैसी गंध आने लगती है। वह शहर की चकाचौंध और सभ्य कही जाने वाली जिन्दगी से प्रभावित हो जाता है। लेखक ने कहानी में गांव और शहरों

के बीच की मानसिकता में आये परिवर्तन को स्पष्ट किया है।

कहानी में जिस संवेदनहीन पति व पिता का चित्रण किया गया है वह उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जो अपनी जड़ों को छोड़कर अपने गांव, अपनी अनपढ़ पत्नी अपने बच्चों को लेकर शर्म और आत्महीनता महसूस करते हैं। वे हर हाल में शहरी जीवन को अपनाना चाहते हैं। उन्हें गांव की सीधी-सादी पग-पग पर साथ देने वाली पत्नी की जगह आधुनिक कठोर पत्नी अच्छी लगती है। और संवेदनहीनता, कठोरता और कायरता की हद तब टूट जाती है जब वह अपने बेटे को पहचानने से इंकार कर देते हैं। जीवन का ऐश्वर्य पद प्रतिष्ठा और दूसरी स्त्री का आकर्षण सहज मानवीय सम्बन्धों को कुचल देता है। उनका क्या कसूर जो ऐसे आदमियों को बनाने में अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं और पीछे छूट जाते हैं विपत्तियां झेलने के लिए, उपेक्षा सहने के लिए।

'तिरिया चिरित्तर' कहानी भयावहता, अमानवीय परिवेश और परपीड़ा में आनन्द लेने की प्रवशत्ति के बीच एक औरत के असहाय हो जाने की कहानी है। विमली गांव के ईट के भट्ठे पर काम करती है। उसकी शादी बचपन में हो गई है लेकिन पति कमाने कलकत्ता चला गया है और लौटने का नाम नहीं लेता। भट्ठे पर कोयला लाने वाले ट्रक ड्राइवर से विमली हंस-बोल लेती है लेकिन ड्राइवर उससे ब्याह रचाने का ख्वाब देखता है। भट्ठे के मिस्त्री कुइसा और ट्रैक्टर ड्राइवर बिल्लर की भी नजर उस पर है। विमली इन लोगों से तो अपनी आबरू बचाने में सफल रहती है लेकिन उसे विदा कराकर लाया ससुर बिसराम चौधरी एक रात सत्यनारायण भगवान के चरणामृत में अफीम मिलाकर उसकी इज्जत लूट लेता है। पंचायत बिसराम की जगह विमली को ही गांव की इज्जत में दाग लगाने वाला करार देती है और उसके ललाट पर गरम कलछुल से दागा जाता है। इस कहानी में जिन्दगी अपनी तमाम कुरूपताओं के साथ असली रूप में नजर आती है। नंदल हितैषी 'तिरिया चरित्तर' के सम्बन्ध में लिखते हैं- "'तिरिया चरित्तर' शिवमूर्ति की ऐसी कहानी है, जहां लोक-चेतना विस्तारित होती है। शिवमूर्ति लोक-चेता रचनाकार है। अवधी क्षेत्र और बोली उनकी विरासत रही है। 'तिरिया चरित्तर' में ससुर के बलात्कार की शिकार 'विमली' को गांव की पंचायत अपनी पारम्परिकता की सलाखों से दागने का फैसला देती है।"[3]

शिवमूर्ति ने ग्रामीण स्त्री के दलित जीवन को बड़ी समग्रता से इस कहानी में रेखांकित किया है। यह कहानी ग्रामीण स्त्री की विडम्बनाओं का एक ऐसा दस्तावेज है जो उसके साहस, उसके संस्कारों, उसकी भावनाओं, उसके विद्रोह और उसकी विवशताओं पर गम्भीरता से मंथन करती है, साथ ही कथा-रस भी बनाए रखती है।

'तिरिया चरित्तर' की तमाम प्रस्तुतियां पूरे देश में हुई है। वर्ष 2004 से 2009 तक बराबर ये प्रस्तुतियां क्रमशः जौनपुर, नागपुर औरंगाबाद, प्रतापगढ़, सिल्चर (आसाम) आदि के साथ-साथ, राष्ट्रीय नाट्य समारोह ग्वालियर (2007) में भी हुई हैं, जो सम्मनित और पुरस्कृत भी हुई है।

'केसर-कस्तूरी' कहानी केसर जैसी तमाम स्त्रियों की कहानी कहती है जो बाल-विवाह की शिकार होती है। कम उम्र में शादी हो जाने का दुष्परिणाम यह होता है कि वह पढ़-लिख नहीं पाती है। छोटी सी उम्र में ही उनके ऊपर अपने पति के साथ-साथ पूरे परिवार कि जिम्मेदारी होती है। इस जिम्मेदारी के बोझ तले उनकी पूरी जिन्दगी नरक में तब्दील हो जाती है। आज के उत्तरआधुनिक कहे जाने वाले दौर में भी गाँवों में इस तरह के उदाहरण देखने को मिलते हैं। खास कर के निम्नवर्ग में आज भी कम उम्र में शादी बहुत मात्रा में होती है। केसर को अपने ससुराल में दिन-रात मेहनत करनी पड़ती है तब जाकर कहीं उसके परिवार की गुजर-बसर होती है। समाज इस तरह की स्त्रियों को गलत नजरों से देखता है। केसर का जेठ उस पर अवैध सम्बन्ध का आरोप लगाता है। जब कोई स्त्री आत्मनिर्भर होकर अपना काम करती है। अपनी देख-भाल खुद करती है, किसी के सामने हाथ नहीं फैलाती है तब पुरुष समाज उस पर इस तरह के आरोप लगा कर क्या सिद्ध करना चाहता है? हमें इस मानसिकता से निकलना होगा।

'अकाल-दंड' इस कहानी की केन्द्रीय पात्र एक दलित-महिला सुराजी है। महिला जो दलितों में भी दलित और दमितों में भी दमित होती है। इलाके में अकाल फैला हुआ है। लेकिन यह अकाल समाज के सशक्त लोगों के लिए नहीं है। यह कमजोर अशक्त और भूमिहीन तबके के लोगों के लिए हैं। ऐसे तबके के भूमिहीन लोग-बाग बाहर यानी परदेश कमाने चले गए हैं। गांव में बच गए हैं-बूढ़े-बूढ़ियाँ, बच्चे, सयानी कुंवारी लड़कियां या बड़े किसान परिवार जिनके घरों में थोड़ा बहुत अन्न शेष है। इस अकाल में भी मानवीयता नहीं बल्कि

जाति-पांति और बिरादरी की भावना सबसे ऊपर दिखाई पड़ती है। मजदूरी देने के नाम पर भी दो आंखी। कोई काम न करने के बावजूद ऊंची जाति वाले पंजीकृत लोगों को बैठे-ठाले आधी मजदूरी मिल जाती है। जबकि नीची जाति वालों के लिए काम ही नहीं है। यह अकाल अधिकारियों और कर्मचारियों के लिए सुकाल साबित होता है। ''ब्लाक के ड्राईवर-कर्मचारियों के लिए कैसा अकाल! उनका मन चौबीसों घंटे, बारहों मास जवान रहता है।'' [4]

इसी अकाल में सेक्रेटरी जो अकाल राहत का प्रमुख है, की नजर गाँव की दलित जवान लड़की सुरजी पर है। वह साम-दाम-दण्ड-भेद किसी भी तरह सुरजी को पाना चाहता है। सेक्रेटरी से आतंकित सुरजी राशन लेने नहीं जाती है। सेक्रेटरी सुरजी की झोपड़ी में पहुँच जाता है। सुरजी अपनी तरफ से प्रतिरोध करती है। पस्त-परास्त सेक्रेटरी तमाम निशानियां छोड़ भागता है। लेकिन सेक्रेटरी ने हारना नहीं सीखा वह इस काम में जमीदार रंगी बाबू का उपयोग करता है। सुरजी के सामने समस्या यह बन गई कि वह अपने भूस्वामी रंगी बाबू को कैसे मना करे। एक ओर कुंआ तो दूसरी ओर खाई। सुरजी सोचती है-''मना करने पर यह जल्लाद यानी रंगी रात-बिरात अपने आदमियों से उठवा सकता है। चीख पुकार करने पर भी इसके मुकाबले कोई नहीं आने वाला।''[5] अंततः सुरजी बयान देने जाने के लिए तैयार हो जाती है। कितना लाचार है आज भी गाँव का दलित? उसके स्वाभिमान की रक्षा कैसे हो सकती है। आज भी कितने दबंग है ऊंचे तबके के लोग। कानून की परवाह किये बिना सब कुछ कर-करा सकते हैं। समाज के सारे नियम कानून समाज के दुर्बल तबके के लिए ही क्यों होते हैं।

'ख्वाजा, ओ मेरे पीर' कहानी उपेक्षित और दलित अंचल के यथार्थ को हमारे सामने लाती है। इसमें एक तरफ मामा-मामी के प्रेम की त्रासदी है, तो दूसरी तरफ परिवार में संवेदनहीनता की चरम सीमा तक होने वाली बूढ़ों की घोर उपेक्षा, उनके त्याग और बलिदान के व्यर्थ हो जाने की व्यथा प्रेम की टीस को और अधिक बढ़ा देता है। मामी संतान की प्राप्ति के लिए, रात-बिरात की परवाह किये बगैर पति से अभिसार के लिए जाती है। मगर वे बच्चे जब कमाने-धमाने लायक होते हैं, तो बूढ़ी मां का त्याग और बलिदान को एक झटके में भुलाकर उन्हें ढालान में रहने और खुद ही खाना बनाकर खाने के लिए विवश कर देते हैं।

'बनाना रिपब्लिक' कहानी के प्रमुख पात्र बदलू, जग्गू, ठाकुर, मुंदर धोबी, फुलझरी देवी है। इन पात्रों के माध्यम से समाज में आ रहा परिवर्तन को इस कहानी में दिखाया गया है। इस कहानी में ठाकुरों की परम्परागत हेकड़ाई को ढलते हुए दिखाया है। दलित व सवर्णों के बीच भेद को खत्म होते दिखाया है। एक दलित लड़के के हाथ से ठाकुर पानी पीने में आनाकानी करता है, तभी लड़का बोलता है ''जब आप हम लोगों के गिलास का पानी नहीं पी सकते, हम को अभी भी 'वही' समझते हैं तो हमारा-आपका साथ कितने दिन निभेगा?''[6] ठाकुर की भृकुटि पल भर के लिए टेढ़ी होती है, फिर सामान्य हो जाती है। कहते हैं, "पानी पीने से ही साथ पक्का होता हो तो कहो बाल्टी भर पी जाऊँ।"[7] कहने के साथ वे लड़के के हाथ से गिलास लेकर गट-गट पी जाते है। दूसरी तरफ इस कहानी में आरक्षण से दलितों का राजनीति में पहुँचना और दलितों को ठाकुरों और ब्राह्मणों की गुलामी से मुक्त होते दिखाया गया है।

अतः कहा जा सकता है कि शिवमूर्ति की कहानियों में केन्द्रीय स्वर न्याय की आकांक्षा है। शिवमूर्ति की कहानियाँ मुख्यतः स्त्री-विमर्श की कहानियाँ है, किन्तु उनके स्त्री-विमर्श के केन्द्र में आज की पढ़ी-लिखी, जागरूक, पुरुष समाज से बराबरी का दर्जा पाने के लिए प्रतिस्पर्धा करती, सामाजिक व बौद्धिक स्तर पर अपनी अस्मिता की रक्षा करने के लिए आर्थिक व राजनीतिक ताकत जुटाती, अपने यौनिक अधिकारों के लिए, भद्र-लोक की नारी नहीं है। उनका स्त्री-विमर्श समाज की उन निम्नवर्गीय औरतों के शारीरिक व आत्मीय सौन्दर्य, दैहिक ताप व उत्पीड़न, जिजीविषा, प्रतिरोध, राग-द्वेष पारिवारिक क्लेश आदि पर केन्द्रित है, जो दूर-दराज के गाँवो में घर-जवार की सीमाओं में कैद होकर अपना जीवन गुजार रही है। यहाँ लक्ष्य बड़े नहीं है, किन्तु आशय बड़े हैं। यहाँ अन्याय व शोषण के खिलाफ प्रतिरोध का दायरा व्यापक नहीं, किन्तु उसमें अद्भूत गहराई है। इनमें फैन्टेसी से गुजरती हुई अथवा प्रतीकात्मक आदर्शवाद के सहारे स्थापित मान्यताओं की उलट-पलट करती हुई नायिकाएं नहीं है। इनमें तो अनपढ़ गरीब, विस्थापित, बाल-ब्याहिता, श्रमिक, शोषित व उपेक्षित वर्ग की साधारण स्त्रियों का जिन्दगीनामा है, जिसमें न हार की फ़िक्र है, न जीत की, बस संघर्ष ही संघर्ष है, वेदना ही वेदना है।

संदर्भ

1. ऋत्विक राय, 'लमही' पश. 71, अक्टूबर-दिसम्बर, 2012, गोमती नगर, लखनऊ से प्रकाशित
2. शिवमूर्ति, 'केशर कस्तूरी' पृ. 27 (कहानी-संग्रह) राधाकृष्ण पेपर बैक्स, दिल्ली
3. ऋत्विक राय, 'लमही' पृ. 82 अक्टूबर-दिसम्बर, 2012
4. शिवमूर्ति, 'केशर कस्तूरी' पश. 102, राधाकृष्ण पेपर बैक्स, दिल्ली
5. वही, पृ. 107
6. रवीन्द्र कालिया, 'नया ज्ञानोदय' पृ. 88, फरवरी, 2013 भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
7. वही, पृ. 88
8. शिवमूर्ति, 'त्रिशूल' पश. 16 राजकमल प्रकाशन, दिल्ली संस्करण 1995
9. वही, पृ. 27
10. रवीन्द्र कालिया, 'नया ज्ञानोदय' पृ. 79, जनवरी 2008, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
11. शिवमूर्ति, 'केशर कस्तूरी' पश. 95, राधाकृष्ण पैपर बैक्स, दिल्ली

मोहन राकेश : रंग-शिल्प एवं प्रयोगधर्मिता

दीना नाथ मौर्य
शोधार्थी भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067

किसी भी कलाकार/साहित्यकार के लिए यह असम्भव होता है कि वह अपने समय तथा अपनी परम्परा से कटकर कुछ लिखे। 'परम्परा की निरन्तरता' की सूझ और 'सम-सामयिकता का बोध' होने की शर्तें सिर्फ आलोचना के लिए ही नहीं है। रचनात्मक साहित्य के लेखक के लिए भी जरूरी है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया के साथ साहित्य की नई धारणा विकसित होती है और साहित्य में आने वाले अनुभव बदलते चलते हैं। अनुभव के बदलने से अभिव्यक्ति के तौर-तरीके भी बदल जाते हैं। शिल्प और प्रयोग का प्रश्न सामाजिक व्यवहार से जुड़ा हुआ प्रश्न है। साहित्य की नई धारणा के साथ इसके सम्बन्ध भी बदलते हैं। रचना-प्रक्रिया और लेखकीय संघर्ष भी इसी के साथ नए रूप धारण करते हैं। ''मानवीय व्यवहार के एक विशिष्ट रूप के तौर पर कलात्मक और साहित्यिक व्यवहार का एक निजी स्वरूप होता है। प्रत्येक मानवीय व्यवहार के उपादान, प्रक्रिया और प्रयोजन के अनुसार ही उसका विशिष्ट स्वरूप विकसित होता है। साहित्य और कला के उपादान, रचना-प्रक्रिया और प्रयोजन की भिन्नता के कारण दूसरे सामाजिक व्यवहारों से उसकी भिन्नता कायम होती है। यही नहीं कि कलात्मक और साहित्यिक व्यवहार दूसरे मानवीय व्यवहारों से भिन्न होता है, बल्कि कला के मानवीय व्यवहार क्षेत्र के भीतर भी विभिन्न कला-रूपों का रचनात्मक व्यवहार एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हुए भी कई स्तरों पर एक-दूसरे से भिन्न भी होता है।''[1] यही भिन्नता की विशिष्टता का निर्धारण करती है जो किसी भी रचनाकार की पहचान बन जाती है।

अपने समय से जुड़े रहने का अर्थ परम्परा को त्याग देना नहीं है। परम्परा तो किसी भी संवेदनशील साहित्यकार की उर्वराशक्ति है, भले ही वह उससे विद्रोह क्यों न करता हो। फिर भी सच्चाई यही है कि हर नया आन्दोलन परम्परा से विद्रोह करके भी वास्तव में उसका विकास करता है। अपनी परम्परा और अपने रचना-परिवेश के प्रति लेखक चाहकर भी तटस्थ नहीं रह पाता है। इस तरह अलग होने के साथ-साथ 'सहभागी' होना भी उसके लिए अनिवार्य हो जाता है– वास्तव में अपने अलगाव की रक्षा भी वह सहभागी होकर कर सकता है। आज की अन्तर्राष्ट्रीयता ने परम्परा और समकालीनता कल और आज, देश और विदेश, व्यक्ति और समष्टि सभी एक सूत्र में इस तरह पिरो दिया है कि मानव के लिए यह कठिन हो गया है कि वह किन मूल्यों का त्याग करे और किसका वरण। किसी भी जागरूक और ईमानदार रचनाकार की रचना अब सार्वदेशिक और सार्वजनिन होगी। उसे विश्व-मानवता की पुरातन और नूतन मान्यताओं से प्रेरणा मिलना स्वाभाविक ही है। नए-पुराने, देशी-विदेशी मूल्यों को अपने में आत्मसात् करने के कारण ही राकेश के नाटकों की अपनी अलग पहचान है। ''वस्तुत: मोहन राकेश के नाटक केवल हिन्दी के नाटक नहीं हैं। वे हिन्दी में लिखे अवश्य गए हैं किन्तु वे समकालीन भारतीय नाट्य-प्रवृत्तियों के द्योतक हैं। उन्होंने हिन्दी नाटक को पहली बार अखिल भारतीय स्तर ही नहीं प्रदान किया, वरन् उसके सदियों के अलग-थलग प्रवाह को विश्व नाटक की एक सामान्य धारा की ओर भी अग्रसर किया।''[2] जहाँ तक नाट्य-शिल्प की प्रेरणा एवं स्रोत का प्रश्न है। मोहन राकेश ने 19वीं शती के मध्य से पश्चिम में शुरू हुए कला-आन्दोलनों और चिन्तन से प्रेरणा लेकर उसे नया तेवर दिया है। संस्कृत और हिन्दी साहित्य के गम्भीर अध्ययन तथा अपनी संस्कृति से अटूट लगाव ने जहाँ उन्हें 'पैर तले की जमीन' से उखड़ने नहीं दिया, वहीं अस्तित्ववादी चिन्तनधारा से अनुप्राणित नन्द दु:ख से मुक्ति दिलाने वाले बौद्ध-धर्म में दीक्षित होकर भी अपने अन्तर की अकुलाहट को वे रोक न सके। जिसका निहितार्थ यह कि उसके प्रश्नों का उत्तर कोई 'संघ' नहीं देगा, वह स्वयं उस उत्तर की तलाश करेगा।

अस्तित्ववादी नाट्य-शिल्प तक पहुँचने के पहले आधुनिक पश्चिमी नाटकों को यथार्थवाद, प्राकृतवाद,

प्रतीकवाद, अभिव्यक्तिवाद, एपिक थियेटर, अति यथार्थवाद आदि जैसे कितने ही खेमें से गुजरना पड़ा है। इन सभी वादों एवं खेमों का प्रभाव परोक्ष एवं प्रत्यक्ष रूप से हिन्दी नाट्य-लेखन पर पड़ता रहा है। भारतेन्दु-युगीन यथार्थवादी नाटक अपनी युगीन परिस्थितियों की क्रिया-प्रतिक्रिया में लिखा जा रहा था। 'प्रसाद का नाट्य स्कूल' इसे उर्वरता प्रदान कर रहा था कि अन्ततः स्वयं प्रसाद को ही समस्यामूलक 'इब्सेन के भूत'[3] ने पकड़ लिया। ध्रुव-स्वामिनी की रचना 'इब्सेन' के प्रभाव में आकर ही हुई फिर भुवनेश्वर, लक्ष्मी नारायण मिश्र, उदय शंकर भट्ट, गोविन्द दास जैसे लोग इस तरह से लिखने लगे। ढेर सारी नाट्य कृतियाँ इन लोगों ने हिन्दी साहित्य को दीं लेकिन ''खेद इतना ही है कि इब्सेन और शॉ की परम्परा से जो यथार्थ उन्होंने ग्रहण किया, उसे उसका बाहरी स्वरूप मात्र कहा जा सकता है।''[4] कुल मिलाकर यह कहा जाना उचित होगा कि हिन्दी में यथार्थवादी नाटक की परम्परा अपनी खास पहचान नहीं बना सकी। जहाँ तक सैद्धान्तिकी का प्रश्न है तो हम देखते हैं कि पश्चिम में चेखव ने यथार्थ और स्वप्न के बीच आन्तरिक यथार्थ की जो काव्यमयी व्यंजना की थी, परवर्ती नाटककारों ने द्वन्द्व और संशय का हल्ला उठाकर उसके सामने क्या स्वयं यथार्थ की सत्ता के सामने ही प्रश्न-चिह्न खड़ा कर दिया। प्रतीकवादी और अभिव्यक्तिवादी नाटकों का मुख्य-स्वर भी आत्मपरक ही है। पश्चिम के एक अन्य लेखक जीवन के कटु अनुभवों ने स्ट्रिडवर्ग को यथार्थवाद से खींचकर आत्मपरक लेखन के लिए बाध्य किया। उसने आस्था-अनास्था तथा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को नई दृष्टि से देखा। अपनी लेखनी से उसने मानवीय त्रासदी को उभारा। इस यथार्थवाद से आत्मपरक तक की यात्रा के बारे में कहा जा सकता है कि ''रचनाओं के पीछे सक्रिय आत्मपरक तत्त्व, भीगे हुए यथार्थ, यथार्थ के बीच से महत्तर यथार्थ की खोज और अन्ततः उसकी अभिव्यक्ति में उसके अपने आत्मिक ओज ने उसके नाटकीय व्यक्तित्व को अद्भुत गरिमा प्रदान की थी। इसका ही परिणाम था कि बाद के यथार्थवादी, अभिव्यक्तिवादी, अतिप्रकृतवादी, दादावादी, ऐब्सर्डवादी नाटककारों ने उससे प्रेरणा के सूत्र निकाले।''[5]

ऐब्सर्ड और अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित नाटकों का समकालीन विश्व जगत की विकासमान स्थितियों से गहरा सम्बन्ध रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान किंकर्तव्यविमूढ़ व्यक्ति अँधेरे में अपनी राह खोजने निकल पड़ता है। विज्ञान की विभीषिका से डरे हुए, अपने अस्तित्व की रक्षा में भय और मृत्यु से दुबके हुए अस्तित्ववादी कामू और सार्त्र जैसे नाटककारों ने अपनी रचना को एक नया तेवर दिया। इस दौरान ऐब्सर्ड नाटकों की खूब रचना हुई। इससे प्रभावित होकर मोहन राकेश ने भी 'छतरियाँ' और बीज नाटकों में एब्सर्ड नाट्य-शिल्प को मुखरित किया। किन्तु ऐब्सर्ड नाटकों के प्रयोग के लिए भारतीय परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं हुई थीं, यही कारण है कि वे आगे भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप विसंगति-नाटक की ओर उन्मुख नहीं हुए। समय के साथ देर से ही सही, स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जन-जीवन में भी हताशा, निर्वासन, अजनबीपन, अलगाव, भय, पीड़ा, सन्त्रास, निरर्थकता, नपुंसकता आदि अस्तित्ववादी प्रवृत्तियाँ व्याप्त हो गई। हिन्दी कविता, कहानी, उपन्यास तथा नाटकों पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। अज्ञेय, कैलाश वाजपेयी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, गिरिजा कुमार माथुर, राजकमल चौधरी, लक्ष्मी कान्त वर्मा, जगदीश चतुर्वेदी, विजयदेव नारायण साही, भारत भूषण अग्रवाल, श्रीकान्त वर्मा आदि दर्जनों कवियों, उपन्यासकारों तथा नाटककारों ने अस्तित्ववादी तेवर में रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इन सारी साहित्यिक गतिविधियों और प्रवृत्तियों का प्रभाव मोहन राकेश के साहित्य पर भी दिखता है। अपने जीवन के साथ ही उन्हें भारतीय जन-जीवन भी अस्तित्ववादी रुझानों में 'आधा-अधूरा' दिखाई दिया। इस नाते अपनी रचनाओं में वे समसामयिकता-बोध से जुड़े मिलते हैं जो आरोपित या आयातित न होकर भारतीय हैं। वस्तुतः देखा जाए तो अस्तित्ववाद भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के बीच का सेतु है। ''मोहन राकेश ने पूर्व और पश्चिम के उसी सेतु पर अपने लेखन को टिकाया है और विश्व-जनीनता की तलाश के बीच ही उसे सच्ची निजता दे पाई है।''[6]

मोहन राकेश की नाट्य-दृष्टि अथवा यह कहा जाए कि उनकी साहित्यिक दृष्टि के निर्माण में भास, कालिदास, भवभूति, माघ, शूद्रक की कृतियों तथा बौद्ध साहित्य का काफी योगदान है। कालिदास के जीवन से सम्बद्ध दन्त-कथाओं तथा उनके साहित्य के अन्तः साक्ष्य तथा उसने सम्बद्ध आधुनिक शोधों का सहारा लेकर उन्होंने आज के एक सर्जनशील कालिदास (रचनाकार) को तो 'आषाढ़ का एक दिन' में व्यक्तित्व ही दे दिया। इसी तरह 'लहरों के राजहंस' की रचना जहाँ बौद्ध साहित्य की पृष्ठभूमि में करते हैं; वहीं 'आधे-अधूरे' की आधुनिक पारिवारिक जीवन की टूटन और मूल्यों की क्राइसिस के बीच करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि तीनों रचनाओं के पात्र विभिन्न कालों से सम्बद्ध होते हुए भी आधुनिक हैं।

जहाँ तक राकेश के नाट्य-शिल्प की प्रेरणा या स्रोत का प्रश्न है यह कहा जाना उचित होगा कि वे न तो अस्तित्ववादी चिन्तन से प्रभावित होकर अपने नाट्य-शिल्प की अवधारणा तैयार करते हैं न ही नितान्त भारतीय संस्कृत साहित्य की परम्परा से, बल्कि प्राचीन और आधुनिक भारतीय चिन्तन नाट्य-परम्परा से अनुप्राणित होकर अपने व्यक्तित्व की निजता से उसे आगे बढ़ाते हैं। मोहन राकेश की निजता ही उन्हें विश्व जनीनता से अपने नाटकों में जोड़ती है, परम्परा तो सिर्फ 'पैर तले की जमीन' ही दे पाई है।

सिद्धिनाथ कुमार ने जयशंकर प्रसाद की नाट्य-कला पर बात करते हुए हिन्दी नाटक के विकास की परम्परा का उल्लेख किया है कि– जहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी नाटक कला को छोड़ा, वहाँ से जयशंकर प्रसाद ने शुरू किया और जहाँ जयशंकर प्रसाद ने उसे छोड़ा, वहाँ से जगदीश चन्द्र माथुर और मोहन राकेश उसे लेकर आगे बढ़े। प्राचीन नाट्य-शिल्प से आगे बढ़कर मोहन राकेश शिल्प सम्बन्धी उन बिन्दुओं की खोज करते रहे जिससे उनकी अनुभूति सहज ही अपनी अर्थवत्ता और अभिव्यक्ति पा सके। इसके लिए मोहन राकेश ने अपने नाट्य-सृजन के क्षणों में अपने युग के नए नाटककारों, नाट्यलोचकों, रंग-कर्मियों और निर्देशकों की मान्यताओं का ख्याल भी रखा। अपने नाट्य-लेखन में उन्होंने खुद को लगातार तराशा है। डॉ. गोविन्द चातक ने मोहन राकेश के इस रचनात्मक संघर्ष को महत्त्वपूर्ण माना है– ''वस्तुतः राकेश के नाटक निरन्तर तराशे जाने की प्रक्रिया के बीच से गुजरे हैं। इस स्थिति में उनमें बहुत बारीक कारीगरी के दर्शन होते हैं, पर इसी श्रम-साध्य संस्कार के कारण कभी ऐसा भी लगता है जैसे शिल्प के उपादान कहीं-कहीं ऊपर से आरोपित हैं।''[7] रंगमंच, निर्देशक और प्रेक्षक से ही जुड़ने का परिणाम है कि राकेश के पात्र ऐतिहासिक होकर भी आधुनिक जीवन की अनुभूतियों से अभिभूत हैं। कालिदास हों या नन्द, मल्लिका हो या सुन्दरी-महेन्द्रनाथ हो या सावित्री अपने समय से कटे नजर नहीं आते। काल की अखण्डता में सभी युगीन सन्दर्भों, प्रश्नों और मूल्यों को जी रहे होते हैं। मोहन राकेश की रचना-प्रक्रिया युगीन सत्य को सार्वकालिक प्रश्नों एवं मूल्यों से जोड़ती है। यही कारण है कि 'आषाढ़ का एक दिन' अथवा 'लहरों के राजहंस' जैसे नाटक इतिहास आश्रित कथानक के बावजूद कम ऐतिहासिक तथा ज्यादा आधुनिक लगते हैं।

मोहन राकेश ने अपने कथ्य की प्रस्तुति के लिए प्राच्य या पाश्चात्य किसी फार्मूलाबद्ध नाट्य-शिल्प का उपयोग नहीं किया। फलतः उनमें न तो वस्तु, रस और नेता तथा ना ही मध्य और अन्त जैसी व्यवस्था मिलेगी, राकेश ने आधुनिक भारतीय जीवन की ऊब, खीझ, कुण्ठा, हताशा, विसंगति और विद्रूपता को अपने नाटकों में रेखांकित करने का ठोस प्रयास किया है। डॉ. चातक के अनुसार ''उनके नाटक कथ्य के स्तर पर जीवन की विसंगति, अजनबीपन और सन्त्रास को चित्रित करते हैं, पर समानान्तर रूप से शिल्प के उसी स्तर को उभारने में वे सफल नहीं हुए। उनके नाटकों में आधुनिक पाश्चात्य नाटककारों जैसी समसामयिक शिल्पगत चेतना नहीं मिलती।''[8]

मोहन राकेश के नाटकों में वस्तु और चरित्र द्वन्द्व से निखरते हैं, सजीवता ग्रहण करते हैं। उनके प्रत्येक नाटकों के मूल में द्वन्द्व और विरोध की स्थितियाँ हैं। उदाहरण के रूप में 'आषाढ़ का एक दिन' में एक तरफ मल्लिका आषाढ़ की प्रथम वर्षा में भीगकर रोमांचक अनुभूति से अभिभूत है, तो दूसरी ओर अम्बिका अपनी पुत्री से सम्बद्ध लोकापवाद के फैलने से गुमसुम है। एक तरफ कालिदास आहत मृग शावक को सहलाता है, उसका उपचार करता है, दूसरी ओर इस शिकार की प्राप्ति के लिए सत्ता का दर्प दिखाता है। एक ओर मल्लिका 'भावना का भावना में वरण' करती है, दूसरी ओर कालिदास का आत्म-केन्द्रित मनोजगत् जाने-अनजाने उस भावना को नकारता रहता है। इसी तरह 'आधे-अधूरे' में विरोधों और द्वन्द्वों में ही नाटक की शुरूआत होती है। उन्हीं में विकास और फिर अन्त भी हो जाता है। ''आषाढ़ का एक दिन'' की बुनावट में गति-तत्त्व की एकतारता के कारण द्वन्द्व पैना नहीं है। 'लहरों के राजहंस' में द्वंद्व का स्तर भावात्मक और वैचारिक है, किन्तु 'आधे-अधूरे' में न भावात्मकता है, न वैचारिकता और न काव्यात्मकता-उसमें ऐसी स्थूल किन्तु यथार्थ स्थितियों का अंकन है, जिनके मूल में दैनन्दिन घरेलू संघर्ष है।''[9]

मोहन राकेश के नाटकों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे घटना प्रधान नहीं हैं। इसलिए बहुत सारे ऐसे कार्य-व्यापार हैं, जो नेपथ्य में घटित होते हैं। नेपथ्य का कार्य-व्यापार नाटकीय स्थितियों के द्वन्द्व को घना करता जाता है। 'लहरों के राजहंस' पर हमेशा काली छाया के रूप में छाये रखने वाले बुद्ध मंच पर कभी नहीं आते, किन्तु अपने कार्य-व्यापार से पूरे नाटक में द्वन्द्व उत्पन्न कर देते हैं। नेपथ्य में घटित होने वाले कार्य-व्यापार ही नाटकों के अन्त में लम्बे-लम्बे संवादों के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। यह शिल्प के स्तर पर मोहन राकेश के

प्रयोग माने जा सकते हैं।

मोहन राकेश ने अपने नाटकों में चेतना प्रवाह का शिल्पगत प्रयोग बिम्बों और प्रतीकों के रूप में किया है। बिम्ब और प्रतीक के साथ-साथ सांकेतिकता के प्रयोग के द्वारा राकेश ने सामान्य घटनाओं से असाधारण अर्थवत्ता व्यंजित कराई है। 'आषाढ़ का एक दिन' में मेघ का बिम्ब जिस प्रकार कथ्य को सम्प्रेषणशील बनाता है। उसी प्रकार 'आधे-अधूरे' में चाय के जूठे बर्तन, कैंची, तस्वीरों की कतरनें, गर्द आदि सभी आधुनिक जीवन की विसंगतियों को तीव्रता से उभारते हैं। फलस्वरूप पूरे कथानक से अर्थ-पूर्ण सांकेतिकता झलकती है। पूर्ण स्थितियों के नाटकीय प्रयोग से राकेश ने केन्द्रीय अर्थ को सहज और सबल बनाया है। 'लहरों के राजहंस' में सुन्दरी की कही गई उक्ति कि ''नारी का आकर्षण पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।''[10] उसी की जिन्दगी बन जाती है। 'आधे-अधूरे' में एक-दूसरे से छुटकारा पाने की अकुलाहट होते हुए भी परिवार के सभी सदस्य असुविधा में सुविधा खोजते नजर आते हैं। अतः मोहन राकेश के नाटकों में जिन पूर्व स्थितियों का संकेत दिया गया है, वही अन्त में नाटकीय बिडम्बना के साथ उभरते दिखाई देते हैं। अर्थ-सम्प्रेषण का यह शिल्पगत प्रयोग मोहन राकेश की विशेषता है।

संवाद और भाषा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा में संवाद का निर्माण होता है और संवाद से नाटकों का स्वरूप-विधान। अतः सही नाटक की तलाश के लिए भाषा की तलाश पहली शर्त है। मोहन राकेश के अनुसार, ''भाषा केवल शब्द-योजना नहीं।.भाषा की सजीव अर्थवत्ता, जो कि शब्दों की रूढ़ अर्थयुक्तता से अलग है, कुछ अंश तक ध्वनि, स्वराघात और शब्दों के विशिष्ट विन्यास पर निर्भर करती है। परन्तु मुख्य रूप से इस अर्थवत्ता की उपलब्धि प्रयोग की ऐतिहासिक, विचार और अनुभूति की आन्तरिक लय तथा बिम्बों के संयोजन में लेखन की आन्तरिक अपेक्षा से होती है। भाषा का अर्थ साफ-साफ रखे गए शब्दों का सम्मिलित अर्थ ही नहीं, उस संयोजन से प्राप्त होने वाला एक और अर्थ भी है।''[11]

मोहन राकेश की यह धारणा महत्त्वपूर्ण है कि वास्तविक अभिनय शब्दों का नहीं, शब्दों के बीच से हुआ करता है। इसलिए सफल संवाद-योजना के लिए नाटकीय भाषा में एक विशिष्ट लय उत्पन्न करना अपेक्षित हो जाता है। राकेश के अनुसार ''शब्दों का सृजनात्मक प्रयोग उन सन्दर्भों की लय में और नई-नई लय खोज सकता है। इसलिए कोई भी शब्द-योजना बिना किसी एक आन्तरिक लय के प्राणवान नहीं होती और यह लय या ध्वनि का ग्राफ ही उसकी वास्तविक अर्थवत्ता है।''[12] उदाहरण के लिए, 'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा अपनी काव्यात्मकता में बोझिलता और दुरूहता पैदा नहीं करती, अपितु अपने भीतर से आधुनिक जीवन की टूटन और घुटन की विसंगति को भी तीव्रता से उभारती है। इसी तरह 'लहरों के राजहंस' के पात्र अपनी वैचारिकता के बावजूद ''किसी बनावटी बाहरी भंगिमा का सहारा लिये बिना ही केवल अपनी-अपनी भाषा की अलग आन्तरिक सूक्ष्म लय के सहारे अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को स्थापित करते हैं।''[13] नाटक में कुछ ऐसे भी स्थल आए हैं, जहाँ शब्द मौन हो गए हैं और स्थिति ही भाषा तथा ध्वनि बनकर प्रेक्षक को अभिभूत कर लेती है।

मोहन राकेश ने अपने सभी नाटकों में स्वगत भाषण या एकालाप का बड़ा ही कलात्मक प्रयोग किया है। एकान्त और अकेले की अनुभूति होते ही उनके पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व, उनकी घुटन और कुंठा स्वतः स्फुरित हो उठती है, जिनसे कथ्य, कथानक और चरित्र उभरकर सामने आ जाते हैं।

रंगमंच को एक भाव और अनुभूति के साथ उसकी इयत्ता की प्रतिष्ठा स्थापित करने के संकल्प के साथ ही मोहन राकेश ने हिन्दी नाटक और रंगमंच को लेकर नवीन प्रयोग किए और रंगमंच को एक गम्भीर कला-माध्यम के रूप में स्वीकार किया। हिन्दी रंगमंच को हिन्दीभाषी प्रदेश के सांस्कृतिक जीवन से जोड़ते हुए उन्होंने अपनी नाट्य-कला दृष्टि का विकास किया। रचनात्मकता को बौद्धिक निष्कर्षों या फॉर्मूलों के आधार पर न देखकर वे अच्छे लेखन के लिए अनुभवों के विस्तार और गहराई को महत्त्वपूर्ण मानते हैं इसके लिए जिन्दगी से जुड़े रहना एक आन्तरिक अनिवार्यता है। जिन्दगी साहित्य के लिए ठोस वास्तविकता है। जिससे निरन्तर जूझते रहना और उसमें से रास्ता निकालना साहित्यकार की पहली शर्त है। इस सन्दर्भ में मोहन राकेश की यह आत्मस्वीकृति रेखांकित करने योग्य है कि–

''*मैं वैयक्तिक और साहित्यिक दोनों स्तरों पर अपने को जिन्दगी से जुड़ा पाता हूँ, पर जुड़े होने का अर्थ, जिन्दगी की सब परिस्थितियों को स्वीकार करके चलना नहीं है। जिन्दगी में बहुत कुछ है, जिसके प्रति विद्रोह और आक्रोश मेरे मन में है। पर वह सब जिन्दगी के ऐतिहासिक उफान के अन्तर्गत आता है। इस विद्रोह और आक्रोश की कुछ परिस्थितियाँ हैं, जिनमें मैं कई बार अपने को अकेला भी पाता हूँ, पर यह अकेलापन, एक*

जूझते रहने की स्थिति है। एक अलगाव नहीं, जिन्दगी के बीच अकेले पड़कर, अपने जुड़े होने का निर्वाह करना है।''[14]

साधारण तौर पर यह जीवन-दृष्टि मोहन राकेश की समूची रचनाशीलता में और विशेष तौर पर उनके नाटकों में स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। जीवन के राग-रंग को तीव्र अनुभूति के फलस्वरूप उन्होंने ईमानदारी और निष्ठा के साथ अपने नाटकों में प्रस्तुत किया है। सम्प्रेषणीयता किसी भी कलाकृति के आन्तरिक गुण की पहचान होती है। मोहन राकेश की दृष्टि अतीत के माध्यम से समसामयिक युग के मानव की उलझन और आत्मसंघर्ष को सम्प्रेषित करने की भी रही है। जीवन में श्रेय और प्रेय के विरोध के कारण किसी मार्ग को अपनाना मानव के लिए समस्या बनता जाता है। उनकी दृष्टि में सामान्य व्यक्ति, पार्थिव, आपार्थिव मूल्यों के द्वन्द्व में, शीघ्र निर्णय नहीं ले सकता तथा मानवीय अनुभूतियाँ तथा अन्तर्द्वन्द्व किसी एक युग विशेष और काल तक सीमित नहीं होते हैं। मोहन राकेश की दृष्टि में नाटकों का ऐतिहासिक कथ्य होते हुए भी वर्तमान युग के जीवन-आदर्शों और मूल्यों की टकराहट को परिलक्षित किया जा सकता है। इन तथ्य को पहचानकर किसी एक युग की घटना को अपने युग का संघर्ष रूप देकर, नाटककार उसके आधार पर शब्द और नेपथ्य की ध्वनियों के आधार पर वर्तमान युग के व्यक्ति के सामाजिक जीवन से लेकर वैयक्तिक जीवन तक व्याप्त विसंगति, निरर्थकता, मूल्यहीनता तथा मानवीय सम्बन्धों के खोखलेपने को भी मूर्त रूप दे सकता है। मोहन राकेश का नाट्य-लेखन इसका व्यावहारिक उदाहरण है।

प्रत्येक युग और परिस्थिति की सर्जनात्मक प्रतिभा अभिव्यक्ति की नवीन भाषा निर्मित करती है। मोहन राकेश के नाट्य-साहित्य में एक नाटकीय भाषा की खोज दिखाई पड़ती है। नाट्य-भाषा के प्रति सजगता ही उनके नाटकों को विशिष्ट बनाती है। नाटक में भाषा जीवन के अन्तर्विरोध, मानवीय स्थितियों की विवेकशून्यता और खालीपन को नए अन्दाज में पेश कर सकती है। उनका मानना है कि संवाद अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है। शब्द की अपनी अर्थवत्ता नहीं होती, बल्कि वे जिन सन्दर्भों के बीच उभरते हैं तथा उनके आस-पास के शब्दों से उनका सम्बन्ध ही उन्हें अर्थान्वित बनाता है। मोहन राकेश शब्द की शक्ति भली-भाँति समझते थे। उनके अनुसार नाटक, शब्दों का नहीं, शब्दों के बीच होता है। नाटक का अभिनय, निर्देशक तथा अभिनेताओं की सूझ-बूझ पर निर्भर करता है। अतः यह कहना सही है कि ''मोहन राकेश की दृष्टि, नाटकों में शब्द और बिम्ब के सर्जनात्मक प्रयोग द्वारा सजीव दृश्यात्मकता और विविध क्रियाओं द्वारा भाव-भांगिमाएँ लाने की रही है। उनकी दृष्टि में अनुकूल मानसिकता से मस्तिष्क और भाषा पर अधिकार किया जा सकता है तथा विशिष्ट वर्ग को सामान्य जन-समूह की ओर लाया जा सकता है। उनकी दृष्टि नाटकों में शब्दों के संयोजन, लय और ध्वनि को रूपायित करने की रही है।''[15]

भाषा को भावों के वहन का साधन माना जाता है। नाटक की विधा में भाषा का दायित्व अपेक्षाकृत बढ़ जाता है। नाटकीय स्थितियों, परिस्थितियों के बीच निर्मित द्वन्द्व को अभिव्यक्ति करने में रचनाकार के 'तीसरे क्षण' की परीक्षा हो जाती है। मोहन राकेश के नाटकों एवं एकांकियों में भाषा और भाव की द्वन्द्वात्मक नाटकीय स्थितियाँ देखी जा सकती हैं। पार्श्व नाटक 'छतरियाँ' और ध्वनि नाटक 'शायद' और 'हूँ' इसके उदाहरण हैं। मोहन राकेश नाटक को विशिष्ट बनाने वाले जिन तत्वों की चर्चा करते हैं उनमें नाटकों में पिरोयी रंग-दृष्टि, रंगमंच की विस्तृत रंग परिकल्पना, नाटकोचित संवाद, सक्रिय सदृश्य भाषा, अभिनय की सूक्ष्मता, स्थितियों का सही चयन, पात्रों की गतिविधियाँ विभिन्न शब्द ध्वनि प्रभाव, प्रकाश-चेतना, दर्शकों को बाँधने वाला माहौल आदि प्रमुख हैं। वे मानते थे कि इस तरह से जिस भारतीय नाट्य कला और रंगमंच का विकास होगा। ''वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा। इस रंगमंच का रूप विधान, नाटकीय प्रयोगों के आभ्यंतर से जन्म लेगा।''[16] रंगमंच ही नाटक का आन्तरिक धर्म है। इसलिए नाटक और रंगमंच के आपसी सम्बन्धों के बारे में भी विचार की एक परम्परा भारतेन्दु से ही हिन्दी नाटक समीक्षा के रूप में चली आ रही थी। मोहन राकेश के सामने उस समय, जहाँ एक ओर प्रसाद के नाटकों का आदर्श था, वहीं दूसरी ओर यथार्थवादी रंगमंच। इसके परिणामस्वरूप उनकी धारणा में सांस्कृतिक भव्यता और यथार्थवादी रंगमंच के समन्वय की चेष्टा परिलक्षित होती है। उन्होंने रंगमंच को बाहर से नया और आधुनिक रूप न देकर उसे अपने निजी जीवन और परिवेश को पहचानने तथा आज के घात-प्रतिघातों की रंगमंचीय सम्भावनाओं को समझने पर बल दिया। उनका मानना था कि ''रंगमंच की वास्तविक खोज, वातावरण में लेखक के स्तर पर और परिचालना के स्तर पर की जा सकती है।''[17]

मोहन राकेश की नाट्य-रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इतिहास और परम्परा से अर्थ ग्रहण करते हुए भी उन्होंने अपने नाटकों और एकांकियों में सामयिक सन्दर्भ को जीवन्त रखा है। कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर नाटककार मोहन राकेश आधुनिक जीवन से जुड़े हुए थे और इसी के चलते नाट्य-सृजन-प्रक्रिया में, घटना और चरित्रों की द्वन्द्वात्मक स्थितियाँ को उभारने में सफल होते हैं। वे नाटक और रंगमंच के तत्त्वों से पूर्णतः परिचित ही नहीं थे बल्कि हिन्दी नव-नाट्य-लेखन को व्यापक सर्जनात्मक और ठोस आन्दोलन के रूप में प्रतिष्ठित करने में, उसे एक समग्र सामूहिक कला-रूप देने में मोहन राकेश के नाटक उल्लेखनीय हैं।

सन्दर्भ

1. मैनेजर पांडेय, शब्द और कर्म, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2006, पृष्ठ संख्या 79,
2. गोविन्द चातक, हिन्दी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश, पृष्ठ संख्या 13, पूर्वोक्त
3. पृष्ठ संख्या 16, पूर्वोक्त
4. पृष्ठ संख्या 16, पूर्वोक्त
5. पृष्ठ संख्या 18, पूर्वोक्त
6. पृष्ठ संख्या 24, पूर्वोक्त
7. पृष्ठ संख्या 53, पूर्वोक्त
8. पृष्ठ संख्या 38, पूर्वोक्त
9. वीरेन्द्र मेहन्दीरत्ता, मोहन राकेश का साहित्य, हरियाणा साहित्य अकादमी, 1986 पृष्ठ संख्या 43
10. नेमिचन्द जैन, लहरों के राजहंस, मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, 2009 पृष्ठ संख्या 67,
11. मोहन राकेश, साहित्य और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2011 पृष्ठ संख्या 78,
12. नेमिचन्द जैन, मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, पृष्ठ संख्या 220, पूर्वोक्त
13. गिरीश रस्तोगी, हिन्दी नाटक का आत्म-संघर्ष, पृष्ठ संख्या 157, पूर्वोक्त
14. मोहन राकेश, परिवेश, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1967, पृष्ठ संख्या 57
15. डॉ. सुशीला देवी, हिन्दी रंग-परम्परा और मोहन राकेश, पृष्ठ संख्या 30, पूर्वोक्त
16. मोहन राकेश, आषाढ़ का एक दिन, भूमिका, दो शब्द, सम्पूर्ण नाटक, पृष्ठ संख्या 11, पूर्वोक्त
17. मोहन राकेश, साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ संख्या 85, 87, पूर्वोक्त

मोहन राकेश के नाटकों में चित्रित पुरुष और नारी

डॉ. डिम्पल गुप्ता
असिस्टेंट प्रोफेसर
पी.जी.डी.ए.वी महाविद्यालय (सान्ध्य)

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटककारों में मोहन राकेश का विशिष्ट स्थान है। इनके द्वारा लिखे गए नाटक प्रासांगिक सार्थक एवं उपयोगी हैं। राकेश ने नाट्य-जगत में कम लिखा किन्तु अत्यधिक महत्त्वपूर्ण लिखा है। इनका नाट्य-साहित्य वैविध्यपूर्ण एवं समकालीन जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। राकेश के नाटक हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। राकेश ने अपने व्यवहार जगत में जिस जीवन को जिया है जो कटु और तिक्त अनुभव एवं अन्य प्रकार का भोगा हुआ जीवन उन्होने जिया उसका प्रभाव उनके नाटकों में भी दिखाई पड़ता है। निराला के बाद हिन्दी साहित्य में जिस आदमी के चारों ओर सबसे अधिक मिथ बुनी गई थी वह थे मोहन राकेश।

राकेश ने जब हिन्दी नाट्य-जगत में प्रवेश किया उस समय हिन्दी नाटक समकालीन जीवनानुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बन पाया था। भारतेन्दु के उपरान्त प्रसाद जैसे महत्त्वपूर्ण नाटककार के पदार्पण से हिन्दी में साहित्यिक गरिमा से युक्त नाटक तो लिखे गए किन्तु रंगदृष्टि से वे तत्कालीन-सन्दर्भों में सफल न हो सके।[1]

राकेश ने हिन्दी में नई नाटक-भूमि का निर्माण किया। इनके नाटकों की अपनी एक दृढ नींव है। नाटक के बदलते मानदंड उनके नाटकों से पहचाने जा सकते हैं। रंगमंच की आन्तरिक अपेक्षा को पहचानने-समझने की जितनी कोशिश इस नाटककार में मिलती है वह हिन्दी में दुलर्भ है। रंगमंच के लिए सारे उपयोगी तथ्यों जैसे-नाटय स्थितियों का चयन, पात्रों की बातचीत का उतार-चढ़ाव, विभिन्न ध्वनि प्रभाव, वातावरण की प्रभावशाली सृष्टि, प्रकाश योजना आदि सब मानो उनके मस्तिष्क में स्पष्ट रहते है। वे स्वयं रंगमंच व रंगमंच से जुड़कर रंगमंच सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिए कटिबद्ध रहते थे। उन्होंने नाटककार और निर्देशक से जुड़े अनेक प्रश्नों को उठाया और हिन्दी नाट्य रंगमंच को एक नई दिशा दी। मोहन राकेश के कई नाटक हैं- आषाढ़ का एक दिन (1958), लहरों के राजहंस (1963), आधे-अधूरे (1969), मोहन राकेश का प्रथम नाटक 'आषाढ़ का एक दिन है' यह हिन्दी का सर्वप्रथम सशक्त नाटक है। यह समकालीन जिन्दगी को व्याख्यायित करने वाला युगीन सन्दर्भो का नाटक है। इसमें नाटककार ने कथ्य के माध्यम से मानव-नियति के संघर्षों के विभिन्न आयामों को अनेक स्थलों पर चित्रित किया है।

'लहरों के राजहंस' मोहन राकेश का दूसरा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाटक है। इसका कथानक भले ही ऐतिहासिक या बौद्धकालीन परिवेश से ग्रहण किया गया है लेकिन नाटककार का मूल प्रयोजन आधुनिक मानव की नियति की खोज और स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में पड़ती दरार की परिणति को अभिव्यक्ति करने का ही एक माध्यम है। इसके माध्यम से आधुनिक जीवन से जुड़े अनेक ज्वलन्त प्रश्नों को नाटककार ने उठाया है। नन्द के माध्यम से आधुनिक मनुष्य की बेचैनी तनाव और अन्तर्द्वन्द्वों को सम्प्रेषित करने में पूर्णतया सफल रहा है।

आधे-अधूरे मोहन राकेश का तृतीय नाटक है। इसमें आधुनिक महानगरीय मध्यवर्गीय जीवन का विराट अंकन है। इसके सभी पात्र आधुनिक युग के अधूरेपन के प्रतीक है। वे किसी-न-किसी अभाव, अतृप्ति, कुंठा या फिर पारिवारिक बातों से असन्तुष्ट, अभिशप्त व्यक्ति है। नाटक के पात्र व्यक्ति, विशेष या परिवार से सम्बन्धित है। इसीलिए नाटककार ने पात्रों को कोई विशिष्ट नाम नहीं दिए। इस नाटक के माध्यम से एक और राकेश ने सम्बन्धों में आए बिखराव, विवाह एवं परिवार जैसी सुदृढ़ संस्थाओं की नींव में आई कमजोरियों को उजागर किया है तो दूसरी ओर समकालीन मनुष्य के भटकाव, विसंगतियों, अलगाव एवं अकेलेपन को दर्शाया है।

स्वतन्त्रता के पश्चात विशेषकर सन् 1960 के बाद भारतीय जीवन-पद्धति में आमूल परिवर्तन हो गया है। इस दृष्टि से साठोत्तरी नाटकों में मानव-जीवन में इतना परिवर्तन आ गया कि नाते-रिश्ते महत्त्वहीन साबित होने लगे। युवावर्ग में पुराने नैतिक मूल्य, रूढ़िया, देशप्रेम आदि अर्थहीन प्रतीत होने लगे।

मोहन राकेश के नाटकों में चित्रित स्त्री और पुरुष का जो जीवन है, वह द्वन्द्व का जीवन है। उनके सम्बन्ध, उपालम्भ, उपेक्षा एवं खिंचाव पूर्ण हैं। धन अर्जित करने के लिए नारी को घर की दहलीज से बाहर निकलकर भ्रष्ट अधिकारियो का सामना करना पड़ रहा है ओर दूसरी और पारिवारिक उलझनों एव समस्याओं को झेलने के लिए भी बाध्य होना पड़ा है। इस सन्दर्भ में डॉ. द्विजराम यादव का यह कथन उचित प्रतीत होता है, 'मानवीय- मूल्यों का ह्रास हुआ है, वैवाहिक और यौन-सम्बन्धों में हमने पुरानी लीक छोड़ी है, पढ़े-लिखे लोगों की कतार लम्बी हुई है। महानगरीय परिवेश में आकर नर-नारी स्वच्छन्द यौनाचार में लिप्त हुए हैं और यह सब आधुनिक परिवेश की देन है।[2]

स्वातन्त्रयोत्तर समाज में जिस प्रकार की सामाजिक स्थितियाँ उत्पन्न हुईं उनसे हमारे परिवार प्रभावित हुए और स्त्री-पुरुष के परम्परागत सम्बन्धों में भी परिवर्तन आया। यह परिवर्तन अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल है। आज पति-पत्नी एक सम्पूर्ण इकाई न होकर अलग-अलग इकाई के रूप में विभाजित हो चुके हैं। सामाजिक दृष्टि से वे सयुंक्त दायित्व को निभाते हुए भी मानसिक धरातल पर नितान्त अकेले हैं, क्योंकि सम्बन्धों की ऊष्मा रीत गई है।[3]

नारी-पुरुष या पति-पत्नी के इस अनचाहे और तनाव ग्रस्त सम्बन्धों के कारण परिवारों पर भी विपरित प्रभाव पड़ता है। वे उच्छृंखल एवं विश्रृंखल होकर रह जाता है। राकेश ने 'आधे-अधूरे' में बताया है कि किस प्रकार परिवार का युवा बेटा अशोक और सबसे छोटी बेटी किन्नी पारिवारिक विषमताओं का लगातार शिकार होते-होते अपने-आप में घुटते एवं टूटते दिखाई देते है और बड़ी लड़की बिन्नी तो माँ के प्रेमी के साथ ही भाग जाती है। परिवार के इस विघटन को पति-पत्नी एक दूसरे पर थोपकर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। नारी-पुरुष सम्बन्धों का विघटन सम्पूर्ण परिवार को विघटित कर देता है। नारी- पुरुष के कटु सम्बन्धों के कारण सारा परिवार ही एक विषैली हवा में साँस लेता हुआ दिखाई देता है।[4] 'लहरों के राजहंस' में भी राकेश स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के भिन्न-भिन्न कोणों से खींचे गए भिन्न-भिन्न चित्र प्रस्तुत करते हैं। इसमें मूलतः पति- पत्नी के रूप में प्रेमी नन्द और रूपवती सुन्दरी के पारस्परिक मुग्ध-मधुर आत्मीय सम्बन्धों का रमणीय प्रस्तुतीकरण हुआ हैं।[5] साथ-साथ पुरुष की आधुनिक स्थिति का चित्रण भी राकेश जी ने अपने नाटकों में किया है। पति- पत्नी के कलहपूर्ण जीवन में पति की स्थिति का भी मोहन राकेश ने नन्द के शब्दों में इस प्रकार प्रगट किया है-

'' मैं चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं और अपने को ढकने के लिए जिसके पास आवरण नहीं है। जिस किसी दिशा की और पैर बढ़ाता हूँ लगता है वह दिशा स्वयं अपने ध्रुव पर डगमगा रही है और मैं पीछे हट जाता हूँ।''[6]

नन्द की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए डॉ. गोविन्द चातक लिखते हैं, कि आधुनिक जीवन में मानव का इतना अवमूल्यन हो चुका है कि नन्द जैसा है वह जीवन का विकृत प्रतीक बन गया है।[7]

आधुनिक युग की बदलती हुई परिस्थिति में मध्यवर्गीय परिवारों में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में औपचारिकता बढ़ती जा रही है। विवाह एवं परिवार जैसी संस्थाओं के आदर्श मूल्य घटते जा रहे हैं। आज स्त्री-पुरुष के बीच मुक्त- सम्बन्ध बढ़ते जा रहे है। 'आषाढ़ का एक दिन' में नाटककार ने कालिदास और मल्लिका के माध्यम से आधुनिक वैवाहिक दाम्पत्य जीवन के टूटते हुए सम्बन्धों को ही चित्रित किया है। आधुनिक समाज में भी नारी- पुरुष मानों इन्ही पात्रों की भाँति दोहरी जिन्दगी जी रहे हैं।

बदलते परिवेश के साथ-साथ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों मे विद्रोह का स्वर तीव्र होता जा रहा है खासकर स्त्री में। मोहन राकेश ने इसका कारण पुरुष में निठल्लेपन, असफलता और बेरोजगारी प्रवृत्ति को स्वीकार किया है। आज किसी भी स्त्री को यह स्वीकार्य नहीं कि उसका पति या पुरुष घर में खाली एवं निकम्मा बन विद्यमान रहे और स्त्री को आजीविका के लिए घर से बाहर निकलना पड़े। स्थितियाँ यदि प्रतिकूल है अर्थात पुरुष यदि घर में खाली है और नारी आजीविका की तलाश में घर से बाहर निकली है तो सम्बन्धों में मधुरता का स्थान कड़वाहट ले लेगी। इस समस्या को राकेश जी ने 'आधे-अधूरे' में दर्शाया है। कड़वाहट यहाँ तक बढ जाती है कि दोनों की ही एक-दूसरे को मानसिक चोट पहुँचाने से नहीं चूकते। 'आधे-अधूरे' में महेन्द्रनाथ जिन व्यक्तियों को पसन्द नहीं करता सावित्री उन्हीं लोगों को घर बुलाकर उसे आघात पहुँचाने का प्रयास करती है।

इसके विपरीत स्त्री–पुरुष के एक दूसरे रूप को भी मोहन राकेश ने दर्शाया हैं। भारतीय समाज में पति–पत्नी के सम्बन्ध को पवित्र दृष्टि से देखा जाता है और पति–पत्नी भी आसानी से सम्बन्ध विच्छेद को स्वीकार नही कर पाते अगर प्रतिकूल स्थितियाँ आ भी जाती है तो दोनों ही मानसिक तनाव एवं कुंठाओं को झेलते हैं। राकेश ने नन्द का ऐसा ही रूप प्रस्तुत किया है, जब नन्द भिक्षु रूप में घर लौटता है तो सुन्दरी के परिवर्तित व्यवहार को देखकर वह कहता है, चाहता था कुछ समय बिल्कुल अकेला रहूँ...जो छाया मेरे सबसे निकट थी वह थी तुम तुम?

मुझे तुमसे बहुत कुछ कहना है जो मैं आज तक नहीं कह पाया। स्पष्ट है कि नन्द सुन्दरी से दूर जाकर भी उससे दूर नहीं जा पाता, उसे अपनी पत्नी से अभी भी लगाव है। सुन्दरी भी ह्दय से नहीं चाहती कि नन्द उसे छोड़कर चला जाए। नाटक के ये दोनों पात्र आधुनिक स्त्री–पुरुष सम्बन्धों का प्रतिनिधित्त्व करते हैं। और इनके माध्यम से जीवन के तनाव और अन्तर्द्वन्द्वों को परिभाषित करने का सफल प्रयास किया है। जहाँ नन्द और सुन्दरी का द्वन्द्व एक ओर स्त्री और पुरुष का है तो दूसरी ओर दो जीवन दृष्टियों का भी है। यही द्वन्द्व आधुनिक स्त्री–पुरुषों के बीच वैचारिक विषमता को भी प्रदर्शित करता है।

आज के समाज में स्वेच्छा से भागकर विवाह करने वाले स्त्री–पुरुष के सम्बन्धों का क्या रूप होता है। इसे भी राकेश जी ने दर्शाया है। 'आधे–अधूरे' में बड़ी लड़की बिन्नी के माध्यम से इन सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है, वह कहती है:

'' मेरा मतलब है ... कि शादी से पहले मुझे लगता था कि मनोज को बहुत अच्छी तरह जानती हूँ। पर अब आकर... अब आकर लगने लगा है कि वह जानना बिल्कुल जानना नहीं था।[8]

राकेश जी ने स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के आधार पर ही प्रेम के दो भिन्न दृष्टिकोणों को भी अपने नाटकों में दर्शाया है। 'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका के रूप में ऐसी प्रेमिका का चित्रण करते हैं जो अपने प्रेमी को (कालिदास) को महान बनाने में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देती है, दूसरी तरफ 'आधे–अधूरे' में सभी पात्र चाहे सावित्री हो या बिन्नी या मनोज या अन्य पात्र, इनमें किसी की भी प्रेम के प्रति न तो समर्पित भावना है न पवित्रता, न एकनिष्ठता और न ही बलिदान की भावना। सारे रिश्ते मानो स्वार्थसिद्धि का ही माध्यम बनकर रह गए हैं। इस प्रकार व्यक्ति के अपने अधूरेपन और विघटन के साथ व्यक्तियों से भरे परिवार के टूटने और विनाश के दृश्य को 'आधे–अधूरे' में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। सावित्री महेन्द्रनाथ के साथ रह अवश्य रही है लेकिन एक ऊब मानों उनके सम्बन्धों में दिखाई देती है लेकिन फिर भी साथ रहने के लिए विवश है। शायद परिस्थितियों के कारण दोनों के स्वभाव में भिन्नता दिखाई देती है। सावित्री महेन्द्रनाथ को बेकार का आदमी समझती है। पुरुष एक महेन्द्रनाथ पत्नी से खीझकर कहता है–

'' अपनी जिन्दगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ, घर-घुसरा हूँ, मेरी हड्डियों में जंग लगा है।''

राकेश जी ने दर्शाया है कि आज दाम्पत्य सम्बन्धों में प्रेम और सौहार्द्र के स्थान पर केवल तनाव और घृणा ही दिखाई देती है।

सावित्री एक पूर्ण मनुष्य की तलाश में भटकती रहती है और पत्नी के रूप में सदैव असन्तुष्ट और हताश ही रहती है और पति मेहन्द्रनाथ को भी आधा–अधूरा करार देती है।

घर की स्थिति सुधारने के लिए सावित्री रात–दिन लोंगों से मिलती–जुलती है, उन्हे घर पर बुलाती है, उसी के शब्दों में–

''अगर मैं कुछ खास लोगों के साथ सम्बन्ध बनाकर रखना चाहती हूँ, तो अपने लिए नहीं तुम लोगों के लिए'।[9]

अर्थात आज नारी इतनी आधुनिक हो गई है कि वह अन्य पुरुषों के साथ अपने सम्बन्धों को छिपाने में भी नहीं हिचकती। सावित्री की दृष्टि में पति और बॉस में बॉस का सम्मान अधिक है।

राकेश ने अपने नाटक में स्त्री–पुरुष के सन्दर्भ में उस रूप का भी वर्णन किया है जब पत्नी यह नहीं चाहती कि उसका पति किसी दूसरी स्त्री से मेलजोल रखे। नन्द और सुन्दरी का वार्तालाप इसी बात की पुष्टि करता है–

नन्दः मैं विशेष रूप से नहीं गया था। गया था देवी यशोधरा से मिलने।

सुन्दरीःदेवी यशोधरा से मिलने? क्यों?

नन्दः उन्होंने बुला भेजा था।

सुन्दरी: बुला भेजा था? क्यों?

स्त्री–पुरुष का आकर्षण युवावस्था में तो प्रायः देखा ही जाता है, अधेड उम्र में भी इसकी सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता। 'आधे–अधूरे' में स्त्री–पुरुष के ऐसे सम्बन्धों का विवेचन करते हुए डॉ. पुष्पा बंसल लिखती है कि एक अधेड़ आयु की पत्नी का पर–पुरुष की और ताकना अनेक भारतीय मानसों को सहन नहीं हुआ।[10] जयदेव तनेजा स्त्री–पुरुष के ऐसे ही सम्बन्धों को स्पष्ट करते हुए लिखते है, 'द्वन्द्व और तनाव में निरन्तर एक दूसरे से टकराते हुए जीते जीने की प्रक्रिया ही आधुनिक स्त्री–पुरुष–सम्बन्धों की वास्तविकता है। सुन्दरी में अहं भाव कूट–कूट कर भरा है। वह नन्द की प्रतीक्षा तो करती है परन्तु उसे यह स्वीकार नहीं कि किसी दूत विशेष को भेजकर नन्द का समाचार ज्ञात करे और न ही वह नन्द को भिक्षु के रूप में स्वीकार कर पाती है। वह स्पष्ट कहती है, ''लौटकर वे नहीं आये'' वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है।''[12]

कहा जा सकता है कि राकेश ने अपने सभी नाटकों में स्त्री–पुरुष को उजागर किया है। आज आधुनिक समाज में स्त्री–पुरुष मल्लिका और कालिदास की भाँति दोहरी जिन्दगी जी रहे हैं। कालिदास की नियति आधुनिक मानव की नियति है। वह अपने मूल और परिवेश से उखड़कर अकेलेपन, सन्त्रास और सम्बन्धहीनता के उस वातावरण में भटक रहा है जो आधुनिक मानव की नियति है। 'लहरों के राजहंस' में भी स्त्री–पुरुष के सम्बन्धों में पड़ती दरार की परिणति को अभिव्यक्त करने का सफल प्रयास राकेश जी ने किया है। नन्द के माध्यम से राकेश जी ने इस बेचैनी तनाव ओर अन्तर्द्वन्द्वों को सम्प्रेषित करने का सफल प्रयास किया है।

'आधे–अधूरे' में भी स्वातन्त्रयोत्तर भारतीय समाज में स्त्रियों और पुरुषों के आपसी सम्बन्धों में आई कड़ुवाहट और अधूरेपन को चित्रित किया गया है। आधुनिक स्त्री–पुरुष के दाम्पत्य जीवन में द्वन्द्व को गहराई से अंकित किया गया है। यह नाटक स्त्री–पुरुष के जीवन में आए ठहराव और संशय को भी व्यक्त करता है। आर्थिक संकट और गृहस्वामी के बेरोजगार होने पर किस प्रकार उसके स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है। आर्थिक–परावलम्बन किस प्रकार पुरुष को मानसिक रूप से अपाहिज बना देता है वह अन्दर–ही–अन्दर कुढता है, टूटता है और विवश हो जाता है। नाटककार ने महेन्द्रनाथ के माध्यम से आधुनिक मनुष्य की इसी स्थिति को दर्शाया है।

इस प्रकार राकेश ने अपने नाटकों के माध्यम से नवयुगीन समाज में नारी पुरुष की स्थिति, उसकी मानसिकता के विविध पहलुओं, आधुनिक जीवन से जुड़े, अनेक पहलुओं, समस्याओं, भावनाओं, विसंगतियों एवं विवशताओं को सशक्त एवं प्रामाणिक अभिव्यक्ति दी है। आज वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की चाह में पति-पत्नी के लिए अपना व्यक्तित्व एवं उसका निजत्व प्रमुख हो उठा है और सम्बन्धों की स्थिरता के लिए समर्पण एवं सहनशीलता का महत्त्व समाप्त हो गया है। इस प्रकार राकेश जी ने अपने नाटकों में पुरुष और स्त्री के चरित्र का जो चित्रण किया है उसमें वे सफल रहे हैं, जो आधुनिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

संदर्भ

1. नाटककार मोहन राकेश– डॉ. स्वामी प्यारी कौडा, पृ.118
2. साठोत्तरी हिन्दी नाटकों में स्त्री–पुरुष सम्बन्ध–डॉ. नरेन्द्रनाथ त्रिपाठी–पृ. 121
3. समाजचेता साहित्यकार मोहन राकेश– डॉ. रूपिमा शर्मा– पृ.198
4. नाटककार मोहन राकेश– तिलकराज शर्मा पृ. 120
5. लहरों के राजहंस: विविध आयाम – जयदेव तनेजा, पृ. 30
6. लहरों के राजहंस– मोहन राकेश– पृ. 127
7. आधुनिक नाटक का मसीहा– मोहन राकेश– पृ. 75
8. आधे–अधूरे– मोहन राकेश – पृ. 27
9. आधे–अधूरे– मोहन राकेश– पृ. 60
10. मोहन राकेश का नाट्य साहित्य, डॉ. पुष्पा बसंल – पृ.–62
11. लहरों के राजहंस : विविध आयाम, जयदेव तनेजा पृ. 81
12. लहरों के राजहंस–मोहन राकेश, पृ. 122

रत्न कुमार सांभरिया कृत 'उजास' नाटक की रंगमंचीयता

डॉ. पार्वती शर्मा चाँदला
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
गार्गी कॉलेज, सिरी फोर्ट रोड, नई दिल्ली

समय और समाज की गतिशीलता से जुड़कर अपने को निरन्तर पुनर्नव करते रहने की शक्ति जिन कलाओं के पास है, रंगमंच उनमें अग्रणी है। रंगकर्म नाटक का प्राण तत्त्व है। देवेन्द्र राज अंकुर नाट्य की अनुभूति को एक जटिल प्रक्रिया मानते हुए लिखते हैं,

''सबसे पहले तो वहाँ भी साहित्य की तरह मात्र शब्द है, लेकिन वे अपने आप में पूर्ण और अन्तिम नहीं है। साहित्य में एक बार लिखित और मुद्रित होने के बाद शब्द अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, लेकिन रंगकर्म में शब्द के पूर्ण और अन्तिम होने की शुरुआत ही शब्द के लिखे जाने के बाद होती है। साहित्य के शब्दों की इयत्ता बिल्कुल अलग-अलग है। जहाँ साहित्य का शब्द अपने मूल रूप में मात्र एक बिम्ब, एक चित्रण एक नैरेटिव भर है वहाँ नाटक का शब्द अपने आप में शारीरिक हरकत और दृश्य को भी समेटे हुए रहता है।'' नाटक को कथा या उपन्यास की भाँति पढ़ने से वह आनन्दानुभूति नहीं मिलती जो रंगमचीय अभिधन द्वारा प्रस्तुत होती है। लिखित या मौखिक शब्द के जीवित तत्त्व अभिनेता के माध्यम से उतने ही जीवन्त दर्शकों तक पहुँचने की प्रक्रिया का नाम ही है - अभिनय और यह सब अभिनीत होते देखते हैं सामने बैठे दर्शक। इसीलिए यह सहज स्वाभाविक ही है कि नाटक, साहित्य की दूसरी विधाओं से अलग, तभी अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है, जब वह अपने प्रदर्शित रूप में दर्शकों के सामने प्रस्तुत होता है। पात्र अपने आंगिक, वाचिक और आहार्य के पारस्परिक घुलन से उत्पन्न सात्त्विक यानी सामान्य अभिनय के माध्यम से नाटक को जीवन्त रूप प्रदान करते हैं। इस प्रकार पात्र, अभिनय और रंगमंच इन तीनों का सन्तुलन ही नाटक को श्रेष्ठता प्रदान करते हैं।

भारत में रंगमंच का निर्माण वैदिक युग में हो गया था। आचार्य भरतमुनि का नाट्यशास्त्र इस बात का जीवन्त उदाहरण है। भरतमुनि ने पाँचवें वेद अर्थात् नाट्यशास्त्र की मूल परिकल्पना ही पहले से प्रचलित चार वेदों से लिए गए अंशों को मिलाकर तैयार की है, जिसमें पाठ्य अंश ऋग्वेद से, गीत सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से और रसों को अथर्ववेद से लिया गया है। इन सबके (आलेख, गीत-संगीत, अभिनय, रंगमंच) मेल से जो नाटक तैयार होता है अन्ततः उसका दर्शक पर क्या प्रभाव पड़ता है, यही इसका सार है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र की मूल परिकल्पना में उसका सौन्दर्यशास्त्र भी अपने आप चला आता है। संस्कृत रंगमंच का बहुलांश उच्च वर्ग के मनोरंजन में ही बीता। नाट्य आलोचकों के मतानुसार 'सामान्य जन से क्षीण सम्बन्धों के कारण संस्कृत रंगमंच में सोद्देश्यता का अभाव रहा और यही उसके अवसान का कारण भी बना'। अन्ततः संस्कृत रंगमंच काल के गर्त की स्थिति को प्राप्त हुआ। संस्कृत रंगमंच के अवसान के साथ-साथ सामान्य जन के मनोरंजन और उनके जीवन के सुख-दु:ख की अभिव्यक्ति के लिए नाट्य की विभिन्न शैलियों तथा रूपों का उदय हुआ। संस्कृत में आमजन की बोलियाँ-भाषाएँ प्रक्षेपित हुईं। कथानकों और कथ्यों ने अपने रूप बदले। भरतमुनि के सिद्धान्तों और रंगमंचीय परिकल्पनाओं को विशाल और जीवन्त प्रयोगशाला मिली। मध्यकाल में लोकधर्मी नाट्य परम्पराएं समस्त भारत में अनेक नाम, रूपों में व्याप्त रही हैं। उत्तर भारत में 'लीला', 'रास' और 'नौटंकी', मध्यभारत और राजस्थान में 'ख्याल', गुजरात में 'भवाई', बंगाल में 'जात्रा', बिहार में 'कीर्तनिया' और 'अंकिया', महाराष्ट्र में 'ललित' और 'दशावतार' तथा दक्षिण में 'यक्षगान' के रूप में लोकनाट्य परम्परा बराबर जीवित रही है। अँग्रेजों के संपर्क में आने पर बम्बई, मद्रास, कलकत्ता आदि बड़े-बड़े शहरों में मनोरंजन के लिए नाट्य संस्थाएँ स्थापित हुई। अँग्रेजी राज स्थापित होने पर रंग-कार्य एवं नाट्य प्रदर्शनों को नया आयाम प्राप्त हुआ। पारसी रंग कम्पनियाँ स्थापित हुई और नाट्य प्रदर्शन के व्यवसाय में लगी। पारसी रंग-मंडली जगह-जगह घूम-घूमकर नाटक खेला करती थी। ये सस्ते मनोरंजन प्रधान नाटकों को प्रदर्शित करके जनता को रंजित करते थे।

हिन्दी में दलित चेतना की अभिव्यक्ति करने वाली अनेक नाट्य कृतियों की रचना हुई है तथा इन दलित नाटकों का सफल मंचन भी हुआ है। इस सम्बन्ध में डॉ. शशिधरन का मत उल्लेखनीय है – ''दलित चेतना के नाटककारों ने नाट्य रूप या नाट्य शिल्प पर कम ही सोचा है। उन्होंने काव्य पक्ष यानी वैचारिकता पर ही ज्यादा बल दिया है। इनकी नाट्य कृतियों की चर्चा हिन्दी नाटक या साहित्य के इतिहास में नहीं मिलती है . .. नाटककारों ने पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से दलित शोषण, उत्पीड़न, धर्मिक कुरीतियों, सामाजिक बुराइयों, राजनीतिक छलछद्म, जातिवाद आदि का अनावरण करते हुए सवर्ण वर्चस्ववादिता का भंडाफोड़ किया है और यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वर्णहीन समाज में ही दलितों की उन्नति सम्भव है''।

डॉ0 शशिधरन के मत के समानान्तर दलित साहित्यकार रत्न कुमार साँभरिया अपने नाटक 'उजास' की भूमिका में लिखते हैं कि – ''नाटक में भाव भंगिमाओं या भाव-प्रवणता का वैसा ही स्थान है जैसा कि विभिन्न अंगों का संचालन। अंगाभिव्यक्ति के बिना संवाद अधूरा है। संवाद नाट्यकर्मी के हाव-भाव और अंगों के क्रियाकलापों से ही नाटक की जीवन्तता है। यह कार्य नाटककार के द्वारा नाटक में दिए गए कोष्ठकों के सूक्ष्म संकेतों के साथ नाट्य-प्रवीण निदेशक पर निर्भर करता है कि वह रंगकर्मियों की भावाभिव्यक्तियों के द्वारा नाटक के कथोपकथनों के साथ किस सहजता से तालमेल बिठाता है। नाटक का मंच पर जी उठना अनिवार्य है, यानी रंगमंचीय प्रतिमानों के बिना नाटक का समग्र मूल्यांकन आज सम्भव नहीं है। दलित नाटक के भी यही आयाम है।''

डॉ. शशिधरन का यह मानना कि दलित चेतना के नाटककारों ने नाट्य रूप या नाट्य शिल्प पर कम ही सोचा है, रत्न कुमार साँभरिया के वक्तव्य से काफी कमजोर सा दिखाई पड़ता है। कम-से-कम दलित नाटक 'उजास' की दृष्टि से देखें तो यह कहना उपयुक्त है कि रत्न कुमार साँभरिया ने जहाँ एक ओर 'उजास' में दलित समाज के यथार्थ वर्णन को प्रस्तुत किया है वहीं दूसरी और इसमें रंगमंचीयता के समावेश को भी अनिवार्य स्थान दिया है। वे मानते हैं कि दलित नाटक में रंगानुभव और जीवनानुभव दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। इसीलिए 'उजास' में जहाँ एक ओर दलित युवक के क्रान्तिकारी विचारों को प्रश्रय मिलता है वहीं दूसरी ओर नाटक को रंगमंच की दृष्टि से उपयुक्त बनाने की ओर भी नाटककार का पूरा ध्यान रहा है। 'उजास' नाटक की पूरी कथावस्तु वाल्मीकि बस्ती और मंदिर के इर्द-गिर्द घूमती है। गाँव के मन्दिर के मुख्य पुजारी 'सेवानन्द' का भाई 'रामानन्द' एक प्रतिष्ठाकांक्षी ब्राह्मण है जो शहर से गाँव में आकर सहज स्वभाव दलितों को मन्दिर में प्रवेश देने का लालच देता है तथा उनसे सहानुभूति प्राप्त कर पंचायत के चुनाव में उनका समर्थन हासिल करने की राजनीति खेलता है, किन्तु गाँव का पढ़ा-लिखा दलित युवक 'कालिया' उसकी सब चालें अपनी दूरदर्शिता से जानता है और उसके मंसूबों को सफल नहीं होने देता। अन्त में मैला न ढोने का निर्णय लेते हुए समस्त वाल्मीकि समाज क्रान्तिकारी परिवर्तन की मशाल जलाता है। नाटक की पृष्ठभूमि में भारत का एक छोटा-सा गाँव उभरकर आता है, जहाँ जातिवाद, छुआछूत, ऊँच-नीच के नाम पर सवर्ण समाज दलित समाज का शोषण तो करता है किन्तु चुनाव के समय अपनी स्वार्थपूर्ण बातों में उन्हें उलझाकर अपना मकसद पूरा करता है। मैला ढोने की प्रथा को समाप्त करने की बड़ी-बड़ी बातें समाज में की जाती है किन्तु समय निकल जाने पर स्थिति जस-की-तस बनी रहती है। 'उजास' नाटक का उद्देश्य इसी सवर्ण समाज की नीचतापूर्ण हरकतों को सामने लाना है। साथ-ही-साथ दलित समाज की सहजता और सवर्णो का झूठा प्रेम तथा स्नेह पाकर सवर्णो का साथ देने को राजी हो जाना कठोर यथार्थ को अभिव्यक्त करता है। आदि से अन्त तक नाटक में नाटकीयता और रोचकता का समावेश हुआ है जो रंगमंचीयता के लिए अनिवार्य हैं।

'उजास' में मात्र दो अंक तथा सात दृश्य हैं। रंगमंचीयता की दृष्टि से यह एक सकारात्मक गुण है। रंगमंच पर दो अंकों को सरलतापूर्वक अभिनीत किया जा सकता है। दृश्यों का संयोजन करने की दृष्टि से प्रस्तुत नाटक उपयुक्त है। जैसे मन्दिर की सीढ़ियों का दृश्य तथा वाल्मीकि बस्ती का दृश्य मंच पर सरलता के साथ चित्रित किया जा सकता है। अधिक दृश्य नाटक को रोचक की दृष्टि से बोझिल बना देते हैं। इस दृष्टि से 'उजास' नाटक मंच पर अधिक सरलता और रोचकता के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। नाटक में कहीं भी कठिन साज सज्जा वाला दृश्य, अश्लील दृश्य या ऐसा कोई भी दृश्य नाटककार ने नहीं लिखा है जिसका अभिनय सम्भव न हो सके।

नाटक की रंगमंचीयता में पात्रों की संख्या का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस पूरे नाटक में सन्ती, रामानन्द,

कालिया, भोलू, शेरसिंह, सेवानन्द और दो–चार अन्य पात्रों सहित कुल दस पात्र चरित्र–चित्रण की दृष्टि से रखे गए हैं। पात्रों की वेशभूषा भी सामान्य है। ग्रामीण परिवेश होने के कारण वस्त्र–सज्जा भी सरलता के साथ अभिनीत की जा सकती है। दलित जाति की महिला, पुजारी, सरपंच और दलित युवक आदि की भूमिकाएँ ही प्रमुख भूमिका हैं।

'उजास' नाटक के संवाद संक्षिप्त, गम्भीर, रोचक एवं सरल हैं। रंगमंचीयता की दृष्टि से नाटक में इस प्रकार की विशेषताओं से युक्त संवाद उत्तम माने जाते हैं। नाटककार ने सन्ती पात्र के माध्यम से एक संवाद कहलाया है –

''पंडत जी महाराज, पाँच साल पहले शेरसिंह सरपंच ने भी कुओं पर चढ़ने का अभियान चलाया था। पिटवा दिया, हमें। नहीं–नहीं काठ की हांडी एक बार ही चढ़ती है, महाराज।'' प्रस्तुत कथन का औचित्य आज भी बना हुआ है।

'उजास' नाटक दलित चेतना को केन्द्र में रखकर लिखा गया एक ऐसा नाटक है जो कि दलितों के शोषण की भयावहता को हमारे सामने रखता है। गाँवों में सवर्णों द्वारा दलितों का उत्पीड़न और दलन कदम–कदम पर होता है। जातिवाद को सामने लाकर सवर्णों की वर्चस्ववादिता की पोल–पट्टी यहाँ खोली गई है। साहित्य अपनी तरह से समाज में नई ज़मीनें तैयार करता है। मुख्य दरवाजें बन्द हों तो प्रवेश के लिए रोशनदानों की जरूरत पड़ती है। दलित चेतना के विकास को महज यथार्थवादी खूँटे से बांधकर या अनुभववादी ठौर पर जकड़ कर रखना सम्भव नहीं है – न समाज में न साहित्य में। भारतीय समाज का सबसे दर्दनाक व घिनौना पहलू है – वर्ण–व्यवस्था। जाति–प्रथा व अछूत, सवर्ण–अवर्ण, किसी भगवान या दैवीय शक्ति ने नहीं बनाए बल्कि समाज के स्वार्थी व शोषणकारी वर्गो के लोगों ने अपने शोषण की वैधता देने व औचित्य ठहराने के लिए बनाया है। जाति प्रथा ने सत्ता को टिकाए रखने व एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण को वैध ठहराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसलिए जाति–प्रथा की वैधता के लिए कभी कर्मफल का सिद्धान्त गढ़ा गया तो कभी अन्य कारण से इस व्यवस्था द्वारा किए जा रहे अत्याचार को उचित ठहराया गया। 'उजास' एक तरह का शपथ–पत्र है जिसमें पूरी ईमानदारी से घटित घटनायें व्यक्त की गई हैं इसने समाज के संवेदनशील मनुष्यों में एक बेचैनी अवश्य उत्पन्न की है। नाटक ने अनेक भ्रम तथा मिथक तोड़े हैं। समाज की सामूहिक स्मृति में इस एहसास को दर्ज कराना नाटककार की अनिवार्य भूमिका में सम्मिलित है। प्रस्तुत नाटक 'उजास' सांस्कृतिक अलगाव को दूर कर व्यापक अनुभवों को दर्ज करता है और यही उसके मूल में भी केन्द्रित है।

मृदुला गर्ग की कहानियों के स्त्री-पात्र

अनिल शर्मा
ज़ाकिर हुसैन कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय

मृदुला गर्ग 1975 के आस-पास जब कहानी-लेखन शुरू करती हैं तब नयी कहानी की लहर और उसका दौर लगभग समाप्तप्राय हो चुके थे। आलोचकों ने उनकी कहानियों को आधुनिक-भाव-बोध से संपन्न कहानियां माना है। यह आधुनिक भाव-बोध मृदुला गर्ग की कहानियों को अन्य महिला-कथाकारों की कहानियों से अलगाता है। अपनी सम्पूर्ण कहानियों के संकलन 'संगति-विसंगति' की भूमिका में मृदुला गर्ग अपने लेखन के विषय में स्पष्ट तौर पर कहती हैं – 'जहां तक मेरा अपना सवाल है, मैंने लिखना शुरू किया, साठ के बाद, जब कई परम्पराएँ, लौट-लौटकर आ चुकी थीं, और आ-आकर लौट चुकी थीं। इसलिए मेरी स्मृति या अवचेतन पर सभी की छाप रही होगी। किसी एक पुख्ता, गैर-लचीली विचारधारा ने, अलबत्ता मुझे गिरफ्त में नहीं लिया। इसलिए मेरे मन में बराबर यह सवाल उठता रहा कि संगति या विसंगति की जो भी राह, जिस किसी ने पकड़ी, वह सायास थी या नहीं? वह विचारधारा के तहत थी या लेखक का अपना स्वभाव, संस्कार व घटित जीवन ऐसा था कि अनायास, वह राह पकड़ ली गई।' **(संगति- विसंगति भाग-1, मृदुला गर्ग, भूमिका, पृ. viii)** इससे स्पष्ट होता है कि मृदुला गर्ग का कहानी-लेखन किसी वाद या विचारधारा से बंधा हुआ नहीं है, हाँ अप्रत्यक्ष पड़ने वाले प्रभाव से भी लेखिका इनकार नहीं करती है। उनके यहाँ किसी प्रकार की कुंठा या ग्रंथि नहीं है और न ही स्त्री-विमर्श के नाम पर होने वाली श्लील-अश्लील की बहस में पहुँची उन्मुक्त स्वच्छंदता।

मृदुला गर्ग की कहानियां स्त्री-विमर्श या स्त्री-वाद का झंडा लेकर बिलकुल नहीं चली हैं किन्तु एक मनुष्य और व्यक्ति के रूप में स्त्री की आकांक्षाओं, अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों को उन्होंने अपनी कहानियों में खुलकर व्यक्त किया है। स्त्री-मन का सच अपनी सच्चाई के साथ यथार्थ रूप में यहाँ मिलता है। यह रूप उस रूप से भिन्न है जिसे उसे समाज को दिखाने के लिए जबरन ओढ़ना पड़ता है, अपनी भावनाओं को भरसक दबाना पड़ता है, वह करना और कहना पड़ता है जो उससे समाज, विशेष रूप से पुरुष कहलवाना और करवाना चाहता है। 'स्त्री के अनेक रूप इन कहानियों में मौजूद हैं। वह पराश्रित भी है और आत्मनिर्भर भी, वह अपने निर्णय स्वयं लेती भी नज़र आती है और परवश भी है।' **(निरंतर और स्तरीय कहानी लेखन-महेश दर्पण, मृदुला गर्ग व्यक्तित्व एवं कृतित्व, सं. दिनेश द्विवेदी, पृष्ठ-282)**

मृदुला गर्ग की कहानियों में हर वर्ग से सम्बंधित स्त्री पात्र हैं। यहाँ सभ्य कहे जाने वाले उच्च वर्ग की कुलीन स्त्रियाँ भी हैं तो मध्यवर्गीय जकड़न को तोड़ने की चाह रखने वाली महिलाएं भी हैं। यहाँ वे कामगार औरतें भी हैं जो निम्न वर्ग की विडम्बना और स्त्री-अस्मिता से जुड़े सवालों के जवाब तलाश करने की कोशिश करती नज़र आती हैं। 'मृदुला गर्ग की कहानियाँ अपने भौगोलिक विस्तार, वर्गीय विविधता, रंगारंग चरित्रों के कारण ही महत्वपूर्ण नहीं हैं, बल्कि उनमें जो भावबोध तथा संवेदना उभरकर आती है, वह उन्हें हिन्दी कहानी के महत्त्वपूर्ण विकास से जोड़ती है, यानी वे हिन्दी कहानी के पिछले युग से आगे की कहानियां हैं।' **(मृदुला गर्ग व्यक्तित्व एवं कृतित्व, सं दिनेश द्विवेदी, पृष्ठ-1)**

'हरी बिंदी' और 'कितनी कैदें' उनकी शुरुआती दौर की वे कहानियां हैं जिन्होनें पहले-पहल हिन्दी जगत का ध्यान खींचा। 'हरी बिंदी' कहानी का ताना-बाना अपने पति की अनुपस्थिति में स्त्री के एक 'अपने' दिन को लेकर बुना गया है। इस कहानी से यह बात शिद्दत से उभरकर आती है कि क्यों स्त्री को ही हमेशा पुरुष के अनुकूल और अनुरूप ढलना पड़ता है? पति की अनुपस्थिति में जब उसे एक दिन मिलता है तो उस दिन को वह अपने अनुसार जीना चाहती है। सुबह देर से उठने में उसे आनंद आता है, 'ओह, सुबह देर तक सोने में कितना आनंद आता है। राजन होता है तो सुबह छह-साढ़े छह से ही खटर-पटर शुरू हो जाती है। चाय-नाश्ते

की तैयारी, दोपहर का खाना साथ में और आठ बजे राजन दफ्तर के लिए रुख़सत। ....खैर, आज वह स्वतंत्र है। जो चाहे करे। उसने शरीर को ढीला छोड़ दिया और दुबारा सोने की तैयारी करने लगी।' (**हरी बिंदी, संगति-विसंगति, मृदुला गर्ग, पृष्ठ 8**) इस प्रकार वह पति की अनुपस्थिति में हर वह काम करती है जो चाहते हुए भी वह नहीं कर पा रही थी। यह कहानी एक शादी शुदा स्त्री की स्थिति का अवलोकन करती है।

'कितनी कैदें' की मीना एक आधुनिक स्त्री है। जीवन के बंधनों को वह कैद के सामान देखती है। कॉलेज में वह मौज मस्ती करती है। देर तक दोस्तों की संगत में रहना, पीना-खाना सब कुछ करती है लेकिन वही दोस्त नशे की हालत में उसके साथ धोखा करते हैं। उसके माता-पिता को जब यह पता चलता है तो उसकी शादी कर दी जाती है। शादी के बाद वह पति के साथ अपना अतीत शेयर नहीं करती पर वह उसके दिमाग में ही घूमता रहता है और अंत में जब लिफ्ट में फँसकर उन्हें जीवन समाप्त होता दिखता है तो वह अपने अतीत का सारा खुलासा अपने पति के सामने कर देती है - 'हमारे गुट में करीब दस-बारह लोग थे। पांच-छः लड़कियां और उतने ही लडके। ... शाम को पूरा गुट मिलकर सैर-सपाटे पर निकलता। कभी सिनेमा, कभी नाच-गाना और कभी पिकनिक। पिकनिक होती तो सब मिलकर 'पॉट' लेते। सिगरेट पीते। तम्बाकू की नहीं, भांग-चरस की। .... क्यों हम ये सब लेते थे, उसकी कोई सफाई नहीं, बस फैशन, नकल माँ-पिता जी को धोखा देने का थ्रिल। कुछ भी कह लो। कभी-कभी मैं अकेली भी किसी लड़के के साथ 'डेट' पर जाती थी पर अधिकतर हम लोग गुट बनाकर ही घुमते फिरते थे। यूँ पॉट लेने के बाद गुट में होना या अकेले होना, एक ही बात थी।' (**कितनी कैदें, संगति-विसंगति, मृदुला गर्ग, पृष्ठ 46**) इस खुलासे के बाद वह तो अपने को कैद से मुक्त मानती है लेकिन मनोज उसके साथ जीवन यापन करने को लेकर असमंजस में आ जाता है, 'उसने कस कर मनोज का हाथ थाम लिया, भावावेश से कांपते स्वर में कहा, लगता है लिफ्ट ही की नहीं, जिंदगी की कैद से निकल आयी हूँ।... और मनोज सोच रहा था, यहाँ तक तो ठीक है, पर अब सवाल मौत नहीं, जिंदगी का है। क्या मैं इसकी पिछली जिंदगी के शिकंजों से बरी रह सकूंगा? इस औरत के साथ जी सकूँगा?' (**कितनी कैदें, संगति-विसंगति, मृदुला गर्ग, पृष्ठ 63**) वस्तुतः जिंदगी की कैदों से निकलना इतना आसान भी नहीं है।

'डेफोडिल जल रहे हैं' मृदुला गर्ग की बहु-पठित और बहु-चर्चित कहानी है। एक स्त्री के मन की गहराईयों और विभिन्न स्तरों को बड़ी बारीकी के साथ इस कहानी में उकेरा गया है। अपने समय का अद्‌भुत कथा प्रयोग है 'डेफोडिल जल रहे हैं'। 'यहाँ स्त्री ऊपर से भावनात्मक आवेगों में भले ही नज़र आती हो, लेकिन भीतर उतरने के लिए जिस मनोवैज्ञानिक समझ का होना जरूरी है, वह मृदुला गर्ग के कहानीकार के पास मौजूद तो प्रारम्भ से है, लेकिन यहाँ आकर जैसे उसका सम्पूर्ण विकास नज़र आता है।' (**निरंतर और स्तरीय कहानी लेखन-महेश दर्पण, मृदुला गर्ग व्यक्तित्व एवं कृतित्व, सं दिनेश द्विवेदी, पृष्ठ-281**)

'लिली ऑफ द वैली' की लिली एक रूपवती और गुणवती युवती है। वह प्रेम विवाह करती है मगर शादी के बाद उसे पता चलता है कि उसका पति एक निठल्ला और ऐबी व्यक्ति है। लेकिन वह अपनी पुरानी सहेलियों तक को भी उसके विषय में नहीं बताती और उसके ऐबों को छुपाती है ताकि उनके सामने उसकी साख बनी रहे। 'यह मैं हूँ' कहानी की नायिका एक आम स्त्री की भांति युवा दिखने की चाहत रखती है और उसके लिए प्रयास भी करती रहती है।

तमाम तरह की आधुनिकता के बावजूद मृदुला गर्ग के कहानी संसार में समाज के नियम-कायदों में विश्वास रखने वाली स्त्रियाँ भी मौजूद है हैं। 'दो एक फूल' की शान्तम्मा 'भला है बुरा है जैसा भी है मेरा पति मेरा देवता है' मानने वाली एक पारंपरिक भारतीय महिला है। उसका पति अपनी तनख्वाह के पैसे को कहाँ खर्च करता है उसे कुछ पता ही नहीं। उसके द्वारा पैदा की गई संतान पैदा होते ही भगवान को प्यारी हो जाती है जिसके लिए पति के साथ ही वह भी स्वयं को दोषी मानती है। पति शराब पीकर उसको पीटता है, लेकिन वह इसको भी ज्यादा तवज्जो नहीं देती क्योकि उसका पहला पति उसे इससे भी अधिक पीटता था। उसको तो यह भी नहीं पता कि उसका पति शहर में किसी अन्य औरत के साथ अवैध सम्बन्ध रखता है जिसके कारण पति द्वारा लाई गई सिफलिस की बीमारी की शिकार वह भी हो जाती है और उसके होने वाले बच्चे भी इस भयंकर बीमारी के कारण अकारण ही काल कवलित जाते हैं। दोबारा से सिफलिस का टेस्ट पॉजिटिव मिलने पर डॉ. मालती उसे उसके पति से दूर रहने के लिए कहती है -

'तू ऐसे आदमी के पास रहती क्यों है? उसने कहा, वह औरों के पास जाकर बीमारी लायेगा और तुझे देगा। तू मेरे पास रह, कमा-खा, तुझे कमी किस बात की है?

शान्तम्मा के मुख पर दयनीय पर मृदुल मुस्कराहट खिल आयी।

कैसे होगा बाई?' **(दो-एक फूल, संगति-विसंगति, पृ. 68)**

'पोंगल पोली' की सोनम्मा एक अनपढ़, ग्रामीण पर स्वाभिमानी लड़की है। बाहर से उनके गाँव आई स्त्री उसे प्रभावित तो करती है लेकिन जब वह स्त्री उनके ताल के पानी को देखकर छी छी करती है तो सोनम्मा भी उससे घृणा करती है। 'सब बच्चे उस स्त्री से ब्रेड आदि कुछ न कुछ सामान लेते रहते हैं पर सोनम्मा फ़कीरप्पा को कह देती है, तू ही खा, मुझे नहीं चाहिए।' **(टुकड़ा टुकड़ा आदमी, पृ.23)** इसी प्रकार अंत में उन दोनों को अपने घर में घुसने से भी मना कर देती है। लेकिन इतनी मासूम है कि उसी स्त्री को यक्षिणी समझ लेती है। 'दूसरा चमत्कार' की चंपा ढोंगी साधू और सेठ जी के ढोंग को सामान्य व्यक्तियों की तरह नहीं समझ पातीं और अपने अपंग पुत्र को गुरु जी की कृपा से ठीक करवाना चाहती है और उनके द्वारा अस्पताल में उसके पुत्र का इलाज करवाने को भी वह एक चमत्कार ही समझ बैठती है।

'अवकाश' कहानी स्त्री के विभाजित व्यक्तित्व को प्रस्तुत करती है। कहानी की नायिका पति और बच्चों के होते हुए किसी अन्य व्यक्ति से प्यार करने लग जाती है। उसे अपने बच्चों से अब भी लगाव है, पति से प्यार करती है पर ना जाने क्या हो गया है कि इस सबके बावजूद भी एक अन्य व्यक्ति के साथ रहना चाहती है। 'महेश मैनें तुम्हें प्यार किया है, अभी भी करती हूँ। इसलिए दो वर्ष से अपने को रोकती रही हूँ, अपने से लड़ती रही हूँ, अविरल, निरंतर, पर हर बार मेरी हार हुई है। जैसे मैं दो भागों में विभक्त हूँ, हारी हूँ अपने ही इस नूतन रूप से। मैं क्या करूँ ... प्यार किया नहीं जाता हो जाता है। वह मुझे खींचे लिए जा रहा है। मुझे माफ़ करो, मैं तुम्हें बहुत दुख दे रही हूँ, पर मुझे जाने दो, मुझे जाना ही है, ओह महेश मैं कुछ नहीं कर सकती।' **(अवकाश, टुकड़ा टुकड़ा आदमी, मृदुला गर्ग, पृ. 43)** अपने नए प्यार पर भी उसे पूरा भरोसा नहीं है। यह प्यार भी टिके ना टिके पर वह उसे एक बार पाना चाहती है। लेकिन महेश से भी अपने को दूर नहीं कर पा रही है। इसलिए जब वह उससे विदा लेने आती है उसके साथ शरीर के आदान-प्रदान के बाद अपने इस पुराने रिश्ते को धोने के लिए बाथरूम में चली जाती है 'लगा, धो देने से ही सब कुछ धुल जायेगा। पानी डालते-डालते उसने सोचा, यह तो सर्दी से ठिठुरते भिखारी पर दुशाला डाल देने जैसी बात हुई। जाना तो मुझे है ही।' **(वही, पृ. 48)** वह दोनों में से किसी को भी छोड़ना नहीं चाहती पर यह असंभव है।

'रुकावट की रीता' एक परकीय नायिका है। अपने प्रेमी के मुख से उसकी पूर्व की चार-चार प्रेमिकाओं के विषय में सुनकर वह कुछ नाराज अवश्य होती है लेकिन उसके मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर वह फिर मान जाती है। वह पति के आने से पहले घर जाने के लिए उत्सुक रहती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मृदुला गर्ग ने अपने कहानियों के स्त्री पात्रों के माध्यम से एक ओर समाज के आधे हिस्से अर्थात स्त्री की विभिन्न कमजोरियों, उसके दलन-उत्पीड़न की कारणों सहित पड़ताल की है वहीं दूसरी ओर स्त्री-जीवन से जुड़ी विभिन्न संभावनाओं को तलाशने में भी लेखिका कामयाब रही है। मृदुला गर्ग के स्त्री पात्रों में पति को देवता मानने वाली स्त्री है तो पति की अनुपस्थिति में पर पुरुष के साथ गुल-छर्रे उड़ाने वाली स्त्री भी है। युवा दिखने की चाहत रखने वाली स्त्री है तो प्रेम विवाह कर अपने निठल्ले पति की कारगुजारियों को छिपाने वाली स्त्री भी है। मृदुला जी ने समाज में रहने वाली हर प्रकार की स्त्रियों को अपनी कहानियों में स्थान दिया है। उनके स्त्री पात्र कोई काल्पनिक या दूसरे ग्रह के पात्र नहीं हैं अपितु हमारे आस-पास मिलने वाले पात्र हैं। मृदुला गर्ग ने 'स्त्री विमर्श' या 'स्त्री सशक्तिकरण' जैसे चालू नारों का इस्तेमाल किये बिना स्त्री के सुंदर मन और सुन्दर भविष्य की कल्पना बड़ी सहजता से कर दी है।